ॐ श्रीपरमात्मने नमः



# कल्याण

वर्ष ६० ] * * * [ संख्या १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

( संस्करण १,६५,००० )

# विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१२, दिसम्बर १९८६ ई०



## चित्र-सूची



प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.२५ रु०
विदेशमें १५ पेंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें ३०.०० रु०
विदेशमें ८०.०० रु०
( ५ पौंड )

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्द-भवन कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

चारों भैय्या
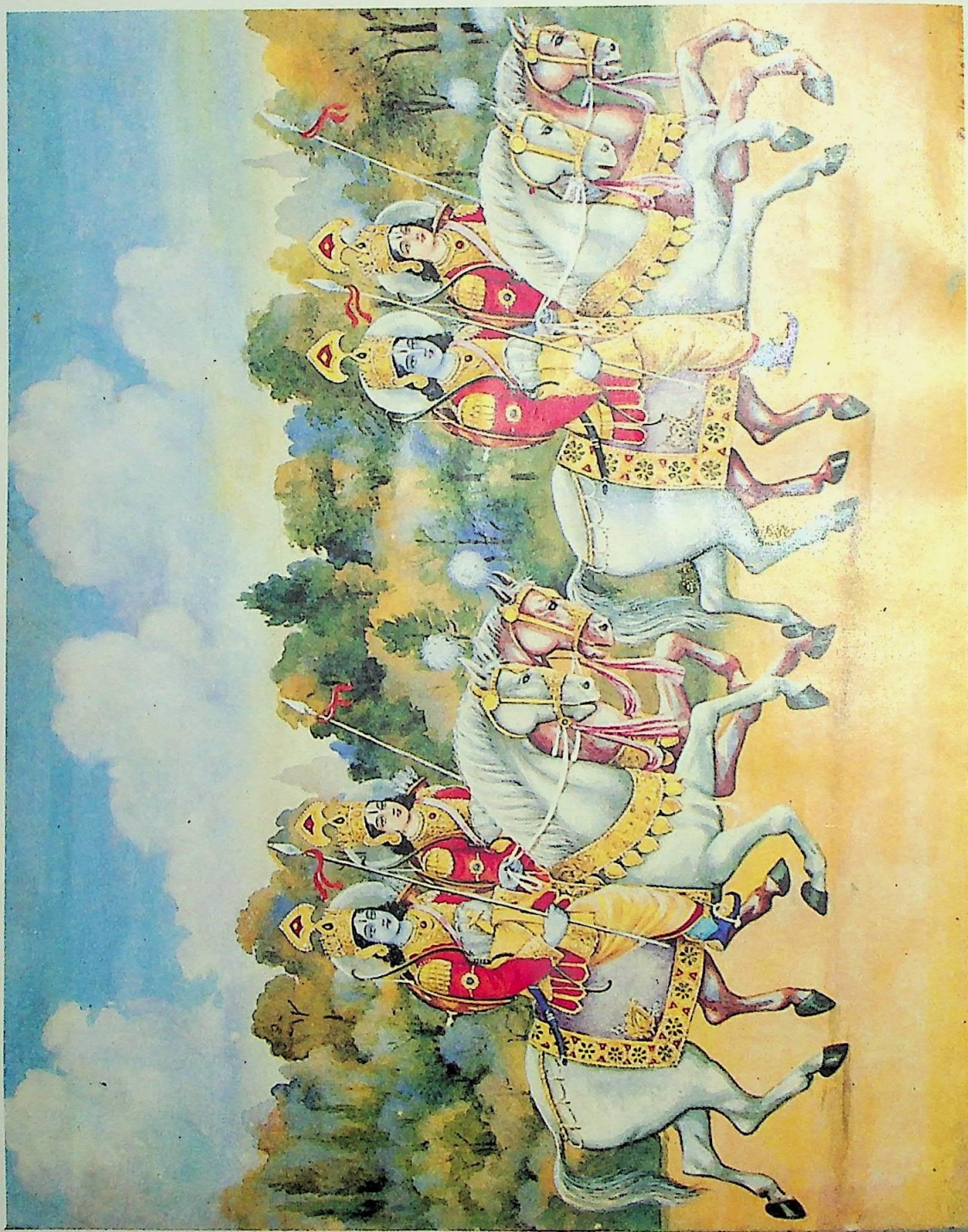
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

# कल्याण
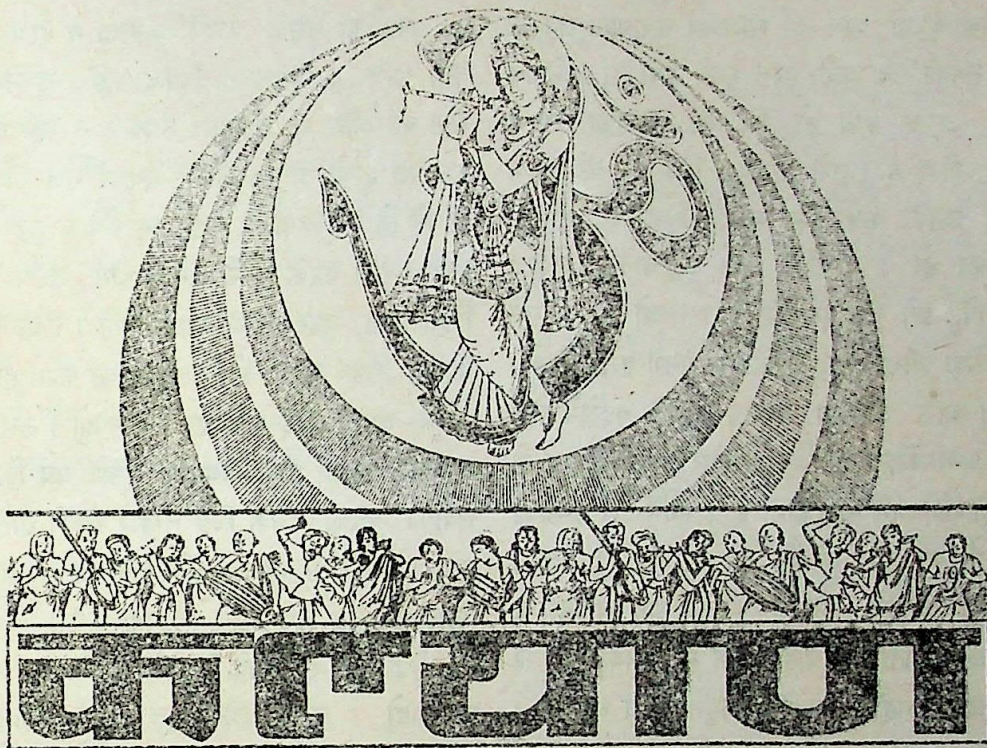
चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

वर्ष ६० | गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१२, दिसम्बर १९८६ ई० | संख्या १२ पूर्ण-संख्या ७२१

## अवधेशकुमारोंकी चौगान खेलनेकी तैयारी

राम-लषन इक ओर, भरत-रिपुदवन लाल इक ओर भये ।
सरजुतीर सम सुखद भूमि-थल, गनि-गनि गोइयाँ बाँटि लये ॥
कंदुक-केलि-कुसल हय चढ़ि-चढ़ि, मन कसि-कसि ठोंकि-ठोंकि खये ।
कर-कमलनि बिचित्र चौगानैं, खेलन लगे खेल रिझये ॥

# कल्याण

सेवा करना परम धर्म समझकर यथायोग्य तन-मन-धनसे सबकी सेवा करो, परंतु मनमें कभी इस अभिमान-को न उत्पन्न होने दो कि मैंने किसीकी सेवा या उपकार किया है। उसे जो कुछ मिला है, वह उसके भाग्यसे उसके कर्मफलके रूपमें मिला है, तुम तो निमित्तमात्र हो। दूसरोंको सुख पहुँचानेमें निमित्त बनाये गये, इसे तुम ईश्वरकी कृपा समझो और जिसने तुम्हारी सेवा स्वीकार की, उसके प्रति मनमें कृतज्ञ होओ।

सेवा करके अहसान करना, सेवाके बदलेमें सेवा चाहना, अन्य किसी भी फल-कामनाकी पूर्ति चाहना तो प्रत्यक्ष ही सेवाधर्मसे च्युत होना है। मनमें इस इच्छाकी लहरको भी मत आने दो कि उसे मेरी की हुई सेवाका पता रहना चाहिये। सेवाके बदलेमें मान चाहना या बड़ाई और प्रतिष्ठाकी चाह करना तो मानकी चाहकी चञ्चल लहर नहीं है, अपितु बहुत मोटी धारा है। यहाँ मनुष्य बहुधा भूल कर बैठता है। जब वह किसी व्यक्ति ( किसी जीव ) या समष्टि ( देश-जाति )की कुछ सेवा करता है, उस समय तो सम्भवतः सेवाके भावसे ही करता है, परंतु पीछेसे यदि उस सेवाके बदलेमें उसे कुछ भी नहीं मिलता अथवा उस मनुष्य या देशके द्वारा, जिसकी उसने सेवा की थी, किसी दूसरेको सम्मान मिलता है तो उसे दुःख-सा होता है। यह इसीलिये होता है कि उसने मन-ही-मन उनके द्वारा सम्मानित होनेका अपना स्वत्व या हक समझ लिया था। दूसरेके सम्मानमें उसे अपना हक छिनता-सा दृष्टिगोचर होता है। वास्तवमें यह एक प्रकारसे सेवाका मूल्य घटाना है। अतएव यह कभी मत चाहो कि मुझे कोई पुरस्कार या सम्मान मिले, न दूसरेको मान मिलता देखकर डाह करो। तुम तो अपना केवल सेवाका ही अधिकार समझो।

कर्म या उसके फलमें आसक्त न होओ, न ममता करो और न विफलतामें विषाद करो। तुमने किसीकी सेवा की और वह तुम्हारा उपकार न माने तो उसपर रुष्ट मत होओ, प्रत्युत अपनी सेवाको भूल जाओ। याद ही रहे तो पता लगाओ, कहीं उस सेवामें कुछ दोष रहा होगा। सेवा करके तुमने गिनाया होगा, उसपर अहसान किया होगा, कुछ बदला चाहा होगा। जिस व्यक्ति या देशकी सेवा करते हो, उसका वह काम हो जानेपर उसमें अपना कोई अधिकार मत समझो। उस हालतमें अपनेको बहुत ही भाग्यवान् समझो जब कि तुम्हारी सेवाका बदला देनेके लिये तुम्हारे सामने होते हुए भी तुम्हें खोजकर न निकाल सके और वह बदला दूसरेको मिल जाय और तुम उसमें सहायता करो।

सेवा या सत्कार्यके बदलेमें मरनेके बाद भी कीर्ति न चाहो। तुम्हें लोग भूल जायँ, इसीमें अपना कल्याण समझो। काम अच्छा तुम करो, कीर्ति दूसरेको लेने दो। बुरा काम भूलकर भी न करो, परंतु तुमपर उसका आरोप लगकर दूसरा उससे मुक्त हो जाता है तो उसे सिर चढ़ा लो। तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। तुम्हारा वह सुखदायी मनचाहा अपमान तुम्हारे लिये मुक्तिका और आत्यन्तिक सुखका द्वार खोल देगा।

सेवा करके नेता, गुरु, अध्यक्ष, संचालक, पथप्रदर्शक, राजा, शासक और सम्भान्य बननेकी कभी मनमें भावना ही मत आने दो। जो पहलेसे ही सम्मान और ऊँचा पद प्राप्त करनेके लिये किसीकी सेवा करना चाहते हैं, वे यथार्थ सेवा नहीं कर पाते। उनकी अपने साथियोंसे प्रतिद्वन्द्विता हो जाती है और सेवा करनेकी शक्ति प्रतिद्वन्द्वीको परास्त करनेमें खर्च होने लगती है। राग-द्वेष तो बढ़ता ही है। सेवा करनेपर मनचाही वस्तु नहीं मिलती, तब दुःख होता है। —'शिव'

# मनोबोध—८

( समर्थ स्वामी रामदास महाराजकी वाणी )

घरीं कामधेनु पुढें ताक मागे ।
हरीबोध सांडूनि वेवाद लागे ॥
करीं सार चिंतामणी काचखंडें ।
तया मागतां देत आहे उदंडें ॥ ६३ ॥

घरमें कामधेनु होनेपर उससे केवल मट्ठा माँगता है । हरीबोध—रामकथाको छोड़कर विवाद करता है । चिन्तामणि ( मनमें चिन्तन की जानेवाली वस्तु तत्काल देनेमें समर्थ मणि ) को सारतत्त्व माननेके बजाय काँचके टुकड़ेको सारतत्त्व मानता है और वही भरपूर देगा—ऐसा विश्वास रखता है ।

इस श्लोकमें कामधेनु शुद्ध सात्त्विक बुद्धिको कहा गया है । संस्कृतमें कहावत है—**'शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः'** । इस प्रकार शुद्ध बुद्धि होनेपर उस बुद्धिसे प्रपञ्च-के सम्बन्धमें जानकारी रखनेकी इच्छा करना कामधेनुसे छाँछ माँगनेकी तरह मूर्खता है । सब प्रकारके ज्ञानमें श्रेष्ठ अध्यात्मज्ञान है । इसे छोड़कर विवाद ( सांसारिक झगड़े-झंझटों ) में पड़ना भी मूर्खता है । चिन्तामणि श्रीरामजीको कहा गया है । श्रीराम सबकी मनःकामना पूर्ण करनेमें समर्थ हैं । उन्हें छोड़कर केवल प्रापञ्चिक विषयोंमें और अपनी अल्प सामर्थ्यके अहंकारमें पड़ना भी मूर्खता ही है; क्योंकि अपनी सामर्थ्य इतनी अल्प है कि मनकी अनन्त इच्छाओंकी तृप्ति वह नहीं कर सकती, किंतु श्रीरामजीका निवास मनमें होते ही वे समस्त इच्छाओंके मूलको ही नष्ट करनेवाला संतोषरूपी धन देते हैं । इससे अनन्त सुख होता है ।

अती मूढ त्या दृढ बुधी असेना ।
अती काम त्या राम चित्तीं वसेना ॥
अती लोभ त्या क्षोभ होईल जाणा ।
अती वीषई सर्वदा दैन्यवाणा ॥ ६४ ॥

जो अत्यन्त मूर्ख होता है, उसमें दृढ़ बुद्धि नहीं होती ( उसकी मति चञ्चल होती है )। अत्यन्त कामी मनुष्यके मनमें श्रीराम नहीं रहते । जिसे अत्यन्त लोभ है, उसे क्षोभ होता है । अत्यन्त विषयी मनुष्य सदा दीन-हीन होता है ।

नको दैन्यवाणें जिणें भक्तिऊणें ।
अती मूर्ख त्या सर्वदा दुःख दूणें ॥
धरीं रे मना आदरें प्रीति रामीं ।
नको वासना हेमधामीं विरामीं ॥ ६५ ॥

हे मन ! दीन-हीन भक्तिरहित जीवन नहीं होना चाहिये । जो अत्यधिक मूर्ख होता है, उसे ( अपना ) दुःख सदा दूना लगता है । हे मन ! आदरपूर्वक श्रीरामजीके प्रति प्रेम धारण करो । सोनेके महलमें विश्राम मिलेगा, ऐसी वासना मनमें मत रखो । सोनेके महलमें रहनेसे विश्राम कभी नहीं मिलता । सच्चा सुख एवं विश्राम पानेका एकमात्र स्थान भगवान् श्रीरामचन्द्र महाराजके चरण ही हैं ।

नव्हे सार संसार हा घोर आहे ।
मना सज्जना सत्य शोधूनि पाहें ॥
जनीं वीष खातां पुढें सूख कैंचें ।
करीं रे मना ध्यान या राघवाचें ॥ ६६ ॥*

यह संसार सारतत्त्व नहीं है । महान् संकट ही है । हे सज्जन मन ! सत्यकी खोज करो । मनुष्य विष खाकर सुखी कैसे हो सकता है ? सुखी होनेके लिये उसे

* श्लोक-संख्या ६६में 'करी रे मना ध्यान या राघवाचें' कहते हुए आगे आनेवाले दस श्लोकोंमें श्रीसमर्थ सद्गुरु रामदास ईश्वर-चिन्तन-मनन एवं ध्यान करनेकी पद्धति और ध्यान-साधनासे होनेवाले परिणामको बताते हैं ।

( संसारका नहीं ) श्रीरामका ध्यान करना चाहिये । हे मन ! श्रीरामका ध्यान किया कर ।

घनश्याम हा राम लावण्यरूपी ।
महा धीर गंभीर पूर्णप्रतापी ॥
करी संकटीं सेवकांचा कुडावा ।
प्रभाते मनीं राम चिंतीत जावा ॥ ६७ ॥

घनश्याम श्रीराम साक्षात् लावण्यरूप ही हैं । ( मूर्तिमान् सौन्दर्य ही हैं । ) महान् धीर, गम्भीर और पराक्रमी हैं । संकट-कालमें भक्तका रक्षण करते हैं । अतः प्रातःकाल श्रीरामजीका चिन्तन करना चाहिये ।

बळें आगळा राम कोदंडधारी ।
महा काळ विक्राळ तो ही थरारी ॥
पुढें मानवा किंकरा कोण केवा ।
प्रभाते मनीं राम चिंतीत जावा ॥ ६८ ॥

ये श्रीराम बलमें निराले हैं । धनुष-बाण धारण करनेवाले हैं । ( सम्मुख रहनेपर या न रहनेपर भी ) महान् विकराल काल भी जिनके भयसे कम्पित होता है, वहाँ बेचारे मानवकी क्या कथा ? अतः प्रभात-कालमें श्रीरामका चिन्तन करना चाहिये ।

सुखानंदकारी निवारी भयातें ।
जनीं भक्तिभावें भजावें तयातें ॥
विवेकें तजावा अनाचार हेवा ।
प्रभाते मनीं राम चिंतीत जावा ॥ ६९ ॥

जो सुख और आनन्दको देनेवाला है, वह भयका निवारण करता है । उसे मनुष्यको भक्तिभावपूर्वक भजना चाहिये । विवेकपूर्वक अनाचारकी इच्छा और मत्सरका त्याग करना चाहिये तथा प्रभातकालमें श्रीरामका चिन्तन करना चाहिये ।

सदा रामनामें वदा पूर्णकामें ।
कदा बाधिजेनापदा नित्यनेमें ॥
मदालस्य हा सर्व सोडूनि द्यावा ।
प्रभाते मनीं राम चिंतीत जावा ॥ ७० ॥

सदा रामनामको निष्कामभावसे कहो, ( इससे ) नित्य नियमपूर्वक आपदाओंकी बाधा नहीं होती । ( संकटका नाश होता है । ) अहंकार और आळसका त्याग कर प्रातःकाल श्रीरामका चिन्तन करना चाहिये ।

जयाचेनि नामें महा दोष जाती ।
जयाचेनि नामे गती पाविजेती ॥
जयाचेनि नामें घडे पुण्यठेवा ।
प्रभाते मनीं राम चिंतीत जावा ॥ ७१ ॥

जिनका नाम लेनेसे महान्-से-महान् दोषोंका नाश होता है, उत्तम गति प्राप्त होती है, पुण्य-संचय होता है, उन श्रीरामका चिन्तन प्रातःकाल करना चाहिये ।

न वेचे कदा ग्रंथिचें अर्थ कांहीं ।
मुखें नाम उच्चारितां कष्ट नाहीं ॥
महा घोर संसार शत्रु जिणावा ।
प्रभाते मनीं राम चिंतीत जावा ॥ ७२ ॥

हे मन ! मुखसे रामनामका उच्चारण करते समय किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं होता । गाँठका द्रव्य खर्च नही होता अथवा किसी ग्रन्थका अर्थ नहीं खोजना पड़ता । ( द्रव्य खर्च करते समय मानसिक और ग्रन्थका अर्थ खोजते समय बौद्धिक कष्ट होते हैं । ) इस संसारको भयंकर शत्रु जानना चाहिये । प्रातःकाल नियमसे मनमें श्रीरामका चिन्तन करना चाहिये ।

( अनु०—कुमारी रोहिणी गोखले )

( क्रमशः )

# प्रेम और समता

( ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका )

जिससे प्रेम बढ़ाना हो, स्वार्थ और अहंकारको त्यागकर उसके हितके कार्योंमें लग जाना ही प्रेम-वृद्धिका सर्वोत्तम उपाय है । जैसे मनुष्य अपने हितके लिये सदा सोचता रहता है, वैसे ही जिससे प्रेम करनेकी इच्छा हो उसके हितका विचार भी सदा करते रहना चाहिये ।

प्रेममें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं होनी चाहिये । जहाँ स्वार्थका भाव आया, वहीं प्रेमका टूटना प्रारम्भ हुआ । वास्तवमें स्वार्थ और अहंकार—ये दोनों ही प्रेम-मार्गमें बड़े बाधक हैं । मान लीजिये, हमने किसीके हितका काम किया और फिर यह कह दिया कि 'इसके हित-साधनमें मेरा कोई भी स्वार्थ नहीं है ।' बस, इस अहंकारके उत्पन्न होते ही प्रेमकी वीणाके तार छिन्न-भिन्न होने लगते हैं । आप सेवा करके किसीको रोगादि संकटोंसे बचाते हैं, द्रव्यादिके द्वारा किसीकी विपत्तिका निवारण करते हैं—ये सभी हितपूर्ण कार्य प्रेमकी वृद्धिमें परम सहायक हैं, किंतु आप इन सेवाओंको यदि किसीके सामने प्रकट कर देते हैं तो सब किया-कराया मिट्टी हो जाता है । इसलिये किसीकी सेवा या उपकार करके उसे कहना नहीं चाहिये; क्योंकि अपने उपकारोंको प्रकट करनेसे अभिमानकी वृद्धि होती है और अभिमानको कोई भी सहन नहीं कर सकता । मनुष्य स्वयं चाहे अहंकारका कितना ही शिकार बना रहे, किंतु वह दूसरेके अहंकारको नहीं सह सकता ।

जरा-सी खटाई पड़ जानेपर जिस प्रकार दूध एकदम फट जाता है, उसी प्रकार उत्तम सेवारूप दूधमें अहंकारपूर्ण वचनकी खटाईके पड़ जानेपर वह सारी सेवा व्यर्थ हो जाती है । जब कि सेवा और हित-साधनके कार्य ही प्रेमके आधार हैं तो उनके व्यर्थ हो जानेपर प्रेम टिक ही कैसे सकता है ? इसलिये प्रेमको बढ़ाने और उसे स्थिर बनाये रखनेके लिये निःस्वार्थ और निरभिमान होकर सबके हितमें रत रहना चाहिये ।

हम लोगोंमें स्वार्थ और अहंकारकी भावनाएँ बद्धमूल हो रही हैं । वास्तवमें ये स्वार्थ और परमार्थ दोनोंके ही लिये बाधक हैं । मान लीजिये, हमने अपने किसी कष्टमें पड़े हुए मित्रको आर्थिक सहायता देकर कष्टसे बचाया और अब फिर किसी दूसरे अवसरपर किसी सज्जनके सामने अपनी इस सेवाका बखान कर दिया । संयोगवश इन सज्जनके द्वारा यह बात उस दुःखित मित्रके पास पहुँचा दी गयी । इसका परिणाम क्या होगा ? यही कि सेवा करनेवाले मित्रके प्रति दुःखित मित्रका विश्वास उठ जायगा और उसे इस बातका पश्चात्ताप होगा कि 'मैंने उस मौकेपर इसकी सहायता लेकर बड़ा ही बुरा काम किया ।' वह अपने मनमें बार-बार यही संकल्प करके दुःखी होता रहेगा कि 'मुझे यदि यह पता होता कि वह मेरी सहायताकी चर्चा दूसरोंके सामने करके मेरे आत्मसम्मानपर इस प्रकार आघात पहुँचायेगा तो मैं उसकी सहायताको कभी स्वीकार न करता ।'

इस तरह हम अपने एक प्रेमी मित्रकी सद्भावनाओंसे हाथ धोकर स्वार्थ-दृष्टिसे अपना बड़ा भारी अहित कर बैठते हैं । इसी प्रकार अपनी सेवाओं और सत्कार्योंको अपने मुखसे गिना देनेपर हम पारमार्थिक लाभसे भी वञ्चित हो जाते हैं । शास्त्रकारोंका तो यहाँतक कहना है कि अपने उत्तम कर्मोंको गिना देनेसे वे कर्म सर्वथा व्यर्थ हो जाते हैं । राजा त्रिशङ्कुने अपने मुँहसे अपने कर्मोंकी प्रशंसा की थी, इससे वे स्वर्गसे च्युत हो गये

थे। इसलिये हमलोग जो भी भजन, ध्यान, सेवा और परोपकारादि उत्तम कर्म करें, उनका बखान अपने मुँहसे हमें कभी नहीं करना चाहिये। पूछे जानेपर भी इस सम्बन्धमें मौन रहना अथवा उस प्रसङ्गको टाल देना ही श्रेयस्कर है। स्त्रियोंमें प्रायः यह दोष अधिक रूपसे देखा जाता है। वे सेवा आदि उत्तम कर्मोंको अधिकतर गुप्त नहीं रख सकतीं। पुरुष भी प्रेमको तोड़नेवाली इस बुरी आदतके कम शिकार नहीं हैं। इसलिये हम सभीको इस बातका विशेष प्रयत्न करना चाहिये कि किसीके प्रति किया हुआ उपकार किसीके भी सामने प्रकट न किया जाय।

जिसका उपकार किया जाता है, वह तो उस उपकारको जानता ही है, फिर दूसरोंके सामने यदि उसे प्रकट किया जाता है तो उसमें मान-बड़ाईकी प्राप्तिका भाव ही छिपा हुआ समझना चाहिये। अन्यथा डिंडिमघोष करनेमें लाभ ही क्या है? किंतु, हाँ, यदि किसीके प्रति किये हुए हितको जनाने और कहनेसे उस उपकृत व्यक्तिका लाभ होता हो तो उसे प्रकट करना दोष नहीं है, किंतु ऐसे स्थल बहुत ही कम प्राप्त होते हैं। मान लीजिये, किसी सज्जनको दो सौ रुपयोंकी आवश्यकता है। उन्होंने हमसे यह बात कही। हम उन्हें दो सौ न देकर केवल पचास ही दे सके, अब उनके शेष डेढ़ सौकी पूर्तिके उद्देश्य-से अपने द्वारा दिये हुए पचास रुपयोंका प्रसङ्ग किसीके सामने चलानेको हम यदि विवश होते हैं और इससे उन सज्जनको और रुपये मिल जाते हैं तो निश्चय ही हमारा इस बातको प्रकट करना हानिकारक न होकर लाभदायक ही है; क्योंकि ऐसा करनेसे उन्हें दुःख न होकर उल्टा सुख ही प्राप्त होता है और हमारा उद्देश्य भी मान-बड़ाईका न होकर केवल हित-साधनका ही है, किंतु ऐसा करते समय भी हमें बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है। स्वार्थका भाव किसी-न-किसी रूपमें आ ही जाता है। इसलिये उस समय भी अपने हृदयको अच्छी तरह टटोल लेना चाहिये कि अपने द्वारा की गयी उस सेवाके प्रकट करनेमें कहीं मान-बड़ाईकी सूक्ष्म भावना तो अंदर नहीं छिपी है?

आजकल निष्कामभावका तो प्रायः अभाव-सा ही हो गया है! जिधर देखिये, उधर ही स्वार्थका बोलबाला है। वास्तवमें स्वार्थकी भावना निष्काम प्रेमके लिये कलंकस्वरूप है। निष्कामभावसे किया हुआ आचरण अमृतस्वरूप माना गया है। भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे यदि किसीसे भी प्रेम किया जाता है तो वह भगवान्‌के ही लिये समझा जाता है और यदि धन अथवा मान-बड़ाई और प्रतिष्ठा आदि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये किया जाता है तो वह उनके लिये ही है, ईश्वरके लिये नहीं।

प्रेमकी उत्पत्ति सेवासे होती है। भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति भी सेवा और भक्तिसे ही होती है। सेवासे भी भक्तिका पद ऊँचा है। सेवा तो हर किसीकी हो सकती है, किंतु भक्ति हर किसीकी नहीं होती। भक्तिमें सेवा तो रहती ही है, पर साथमें श्रद्धा और प्रेमका भी समावेश रहता है। प्रेमका महत्त्व तो भक्तिसे भी अधिक है। प्रेम भक्तिका फल है और वह व्यापक भी है। सेवाका फल भी प्रेम ही है।

प्रेमकी प्राप्ति भक्ति और उपकारसे हो सकती है। इसलिये प्रेमके इच्छुकोंको चाहिये कि वे यथासाध्य सबका उपकार और सेवा करनेमें तत्परताके साथ लग जायँ। सेवा और उपकारमें भी अन्तर है, सेवामें तो विनयकी अधिकता और अहंकारका अभाव है, किंतु उपकारमें अहंकारका समावेश भी है। दूसरेके हित-साधनमें रत रहनेवालेको स्वार्थ और अहंकारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। निःस्वार्थभावसे निरहंकार होकर सबकी सेवा करना ही सबके प्रेमको प्राप्त करना

है। सेवक होकर यदि अपने सेवाकार्यको गिना दे, उसका अहसान कर दे तो उस सेवाकी कीमत वहीं घट जाती है—निष्कामभावमें कलंक लग जाता है। यदि सेवा निष्कामभावसे की गयी तो उसे प्रकट क्यों किया गया, प्रकट करते ही वह सकाम हो जाती है। सेवा करके उसे कह देनेपर सेवाका महत्त्व घट ही जाता है, किंतु उसके साथ ही यदि यह कह दिया गया कि 'मैंने तो निष्कामभावसे सेवा की' तो उसका पद और भी घट जाता है। निष्कामभाव तो हृदयमें रखनेयोग्य एक गोपनीय निधि है। वह ढिंढोरा पीटनेकी वस्तु नहीं।

हमलोगोंका प्रेम उच्च कोटिका नहीं, साधारण श्रेणीका है। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ नियम नहीं रहता। संकोच, भय और आदर आदिको प्रेमके राज्यमें कोई स्थान नहीं मिलता। मान-बड़ाई और संकोच आदिकी वहाँ गन्ध भी नहीं है। इन भावोंका जितना ही अभाव होता है उतना ही प्रेम अधिक महत्त्वका माना जाता है। प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद—ये तीनों वास्तवमें एक ही हैं। प्रेमास्पद प्रेमीका जितना ही निरादर करता है उतना ही वह आनन्दित होता है। प्रेमीको चाहे कितनी खोटी-खरी सुनायी जाय, कितना ही वह तिरस्कृत हो, किंतु फिर भी प्रेमास्पदके प्रति उसके मनमें अधिकाधिक प्रेम ही बढ़ता रहता है। जिसे हम बिना हिचकिचाहट-के उपालम्भ दे सकें, निस्संकोच कड़ी बातें सुना सकें, वही सच्चा प्रेमी है। जिसमें प्रेमका अभाव है, वह कड़ी आलोचना या निन्दा सह नहीं सकता। मान लीजिये कि मैं किसीके सामने आपकी बुराई, आपके दोषोंकी चर्चा करूँ अथवा आपकी वस्तु किसीको दे दूँ या किसीके सामने आपकी जिम्मेवारी ले लूँ और आपके चित्तमें कोई विकार न हो तो समझा जाय कि आपका मुझपर प्रेम है। यदि प्रेमास्पद प्रेमीकी वस्तुको उसकी सम्मति लिये बिना ही किसीको दे देता है तो प्रेमीके चित्तमें आनन्द होता है। वह यह कभी नहीं सोचता कि मेरे पूछे बिना ही मेरी वस्तुका इस प्रकार उपयोग क्यों किया गया। प्रेमीको कठिन-से-कठिन काममें यदि प्रेमास्पद नियुक्त कर दे, यहाँतक कि उसकी सम्मतिके बिना उसका बलिदान भी कर दे तो भी प्रेमी प्रसन्न ही रहता है, उसके चित्तमें इतना उल्लास होता है कि मानो उसे साक्षात् ईश्वरके दर्शन ही हो गये, किंतु ऐसा प्रेमी मिलना बहुत कठिन है। अस्तु।

जिन्हें प्रेम प्राप्त करना हो उन्हें दो बातोंको भूल जाना चाहिये—दूसरेके प्रति किया हुआ उपकार और दूसरेके द्वारा किया हुआ अपना अपकार। इनका संस्काररूपसे भी मनमें रहना निष्कामभावके लिये कलंकस्वरूप है। दो बातें कभी भुलानी नहीं चाहिये—(१) हमारे प्रति दूसरेका किया हुआ उपकार और (२) अपने द्वारा किया हुआ दूसरेका अपकार। इन बातोंको जीवनपर्यन्त याद रखना चाहिये। जो हमारा उपकार करता है उसे याद रखनेसे हमारे मनमें उसका उपकार करनेकी भावना सदा बनी रहेगी, जो हमारे कल्याणमें सहायक सिद्ध होगी। हमारे द्वारा जो अपकार बन गया है उसे याद रखनेपर हमारे मनमें पश्चात्ताप होगा। पश्चात्ताप एक प्रकारका प्रायश्चित्त है, जो अन्तःकरणकी शुद्धि करके हमें कल्याण-मार्गमें अग्रसर करता है। उपकारके प्रति हम कृतज्ञ बने रहेंगे तो समय पड़नेपर हम उस उपकारके ऋणसे मुक्त हो सकेंगे। अपने द्वारा किये हुए अनिष्टका चिन्तन रहनेसे पश्चात्तापरूपी प्रायश्चित्तके द्वारा हम पापसे मुक्त हो सकेंगे। इस प्रकार पाप और ऋणसे मुक्ति पाना ही मोक्षको प्राप्त करना है। बार-बार जन्म होनेमें दो ही प्रधान हेतु हैं—(१) पाप, (२) ऋण। जो निष्पाप और उऋण हैं, वे एक प्रकारसे मुक्त ही हैं।

यदि हमने किसीका उपकार करके वाणीसे प्रकट नहीं किया, किंतु मनमें संस्काररूपसे भी उसे रहने दिया तो भी निष्कामभावके लिये, जैसा कि पहले कहा

जा चुका है, कलंकरूप ही है। इसी प्रकार दूसरेके द्वारा किये हुए अपने अपकारको भी यदि हृदयसे सर्वथा नहीं हटाया तो हमारे मनमें इस बातकी इच्छा बनी रहेगी कि उस अपकारीको किसी प्रकार दण्ड मिल जाय तो ठीक है। अतएव प्रेमकी वृद्धिके लिये मन, वाणी और व्यवहारमें निष्कामभाव और निरहंकारताका होना बहुत ही आवश्यक है। जहाँ स्वार्थ और अहंकार होता है वहाँ प्रेम नहीं ठहर सकता।

व्यवहारमें समताके भावकी भी बड़ी आवश्यकता है। संसारमें वस्तुतः वही मनुष्य धन्य है, जिसे समता-भावकी प्राप्ति हो गयी है। इस भावको कार्यरूपमें परिणत करना ही गौरवकी बात है। मनुष्यका अपने शरीरके सभी अङ्गोंमें आत्मीयता और प्रेमका भाव समानरूपसे रहता है। सिर, हाथ-पैर आदि शरीरके किसी भी अवयवके दुःखका अनुभव मनुष्यको समान रूपसे होता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य सबके सुख-दुःखोंका अनुभव अपने ही सुख-दुःखोंकी भाँति करने लगे तो उसे समताका भाव माना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञान-पक्षसे यही बात गीतामें कही है—

**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**
**सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥**
(६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

वास्तवमें महात्मा वही है जो ब्रह्माण्डभरमें अपने आत्माको व्यापक देखता है। एक देशमें अर्थात् केवल शरीरमें ही आत्माको सीमित समझनेवाला महात्मा नहीं—अल्पात्मा है। वह महात्माकी भाँति समस्त प्राणियोंके सुख-दुःखोंका अनुभव नहीं कर सकता। उसमें सहानुभूति और समवेदनाका बड़ा अभाव रहता है। समदर्शी महात्माओंकी स्थितिका ज्ञान-दृष्टिसे वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।**
**ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥**
(गीता ६।२९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।'

यह समदर्शिताकी स्थिति—यह समताका भाव भगवान्‌की कृपासे प्राप्त हो सकता है। इसलिये भगवान्‌को याद रखते हुए ऐसा भाव प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जब भक्तिके सिद्धान्तसे विचार करते हैं, तब समस्त संसारको ईश्वरका रूप समझ लेनेपर समताका भाव प्राप्त हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

वास्तवमें भगवान्‌का वही अनन्य भक्त है, जो समस्त सचराचर भूत-समुदायको साक्षात् ईश्वरका स्वरूप समझकर सबके साथ समताका व्यवहार करता है। ज्ञानकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरा ही आत्मा है और भक्तिकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सब मेरे स्वामीका ही रूप है और मैं इस समस्त भूतसमुदायका सेवक हूँ।

दोनोंमेंसे किसी एक मार्गसे भी समत्वबुद्धि प्राप्त हो जानेपर मनुष्यमें स्वाभाविक ही दया, विनय और प्रेम आदि उत्तमोत्तम गुणोंका अधिकाधिक विकास हो जाता है और उसके अन्तःकरणके राग-द्वेष आदि समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं। ऐसे राग-द्वेषरहित समदर्शी महात्माके द्वारा जो भी व्यवहार होता है, वह लोगोंके लिये आदर्श और कल्याणप्रद ही होता है। अतएव समताका भाव प्राप्त करनेके लिये निरन्तर भगवान्‌को याद रखनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

# उदार बनो

( लेखक – श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर )

जो प्रसन्न रहता है, वही उदार है। मनुष्यमें प्रसन्न रहनेकी इच्छा स्वभावसे है, परंतु अज्ञानी मनुष्य यह नहीं पहचानता कि सच्ची प्रसन्नता क्या है ? वह अज्ञानवश प्रसन्नताका नाम ले-लेकर उसे रोकनेवाली वस्तुओंकी इच्छा कर बैठता है और अप्रसन्नताको अपना लेता है। जिन वस्तुओंको पानेसे इन्द्रियोंको सुख और न पानेसे दुःख होता है, अज्ञानी मनुष्य उन वस्तुओंको पाकर थोड़ी देरके लिये अपनेको प्रसन्न मान लेता है और उनके नष्ट हो जानेपर फिर दुःख मानने लगता है। थोड़ी देरका सुख ही तो संसारका वह दुःख है, जिसने सुखका स्वाँग बना रखा है और सारे संसारको ठग रखा है। इस थोड़ी देरके सुखने मनुष्य-जीवनकी सुन्दरता नष्ट कर डाली है।

थोड़ी देरकी प्रसन्नता ही मनुष्यकी ठगिनी है। यही अप्रसन्नताका सच्चा रूप है। थोड़ी देरकी प्रसन्नताने ही संसारकी प्रसन्नता छीनी है। यदि मनुष्य इस थोड़ी देरकी झूठी प्रसन्नताके पीछे न पड़ता, तो उसे सच्ची प्रसन्नता हाथ लग जाती। अज्ञानीने भूलसे यह मान लिया कि संसारके पदार्थोंमें मनुष्यको प्रसन्न करनेकी शक्ति है; परंतु सच्ची बात यह है कि उनमें मनुष्यको प्रसन्न करनेकी शक्ति नहीं है। अपनेको प्रसन्न रखनेकी शक्ति तो मनुष्यके ही मनमें है और वह शक्ति उसकी शुद्धता है। संसार कान खोलकर सुन ले कि मनको शुद्ध रखे बिना संसारमें कोई भी कभी भी लाख प्रयत्न करके भी प्रसन्न नहीं रह सकता।

जब मनुष्य भूलसे कुछ पदार्थोंमें अपनेको प्रसन्न करनेकी शक्ति मान लेता है, तब वह उन्हें अपनाकर सदा दुःख-ही-दुःख भोगता रहता है। वह मधुमें लिपटी हुई मक्खीके समान अपनेको पदार्थोंके साथ लिपटा लेता है और उनके बन्धनमें बँधकर दुःख भोगता रहता है। अज्ञानीको लुभानेवाली वस्तुएँ इस संसारमें सर्वत्र भरी पड़ी हैं। यहाँ उनकी कोई न्यूनता नहीं है। अज्ञानी पद-पदपर लोभमें फँसता चला जाता है। वह जिधर आँख डालता है, उधर ही उसे लुभानेवाली वस्तुएँ दीखती हैं। वे उसे अपनी ओर खींचती हैं, वे उसे बुलाती हैं, वह उनके जालमें फँस जाता है और वे उसे सदा दुःखी रखती हैं।

लुभानेवाली वस्तुएँ संसारमें थीं तो इसलिये कि मनुष्य उन्हें देखकर उत्पन्न होनेवाली अधीरतासे लड़ा करता, धीरज रखना सीखता और प्रसन्न रहा करता, परंतु अज्ञानी ईश्वरकी जगत्की रचना करनेवाली इस शुभ इच्छाको नहीं पहचानता। उसने उन्हें देखकर अपना मन ढीला छोड़ दिया। उसने अपनेको उन्हें भोगनेके लिये विवश मान लिया। उसने केवल एक बात देखी और इनके जालमें बँध गया कि ये पदार्थ आँखोंसे देखनेमें अच्छे लगते हैं, हाथसे छूनेमें सुखदायी प्रतीत होते हैं और जीभसे चखनेमें स्वादिष्ट जान पड़ते हैं। वह केवल इन ऊपरकी बातोंपर मोहित हो गया और आगे सोचना छोड़कर इन्हींमें फँसा रह गया।

यदि वह आगे सोचता तो उसे दीखता कि आँख, नाक, कान, त्वचा आदि इन्द्रियोंको सुख देनेवाले पदार्थ इन इन्द्रियोंको चाहे थोड़ा-सा सुख देते हों, परंतु ये मनका सुख तो छीन ही लेते हैं। ये मनकी क्या बुरी अवस्था कर डालते हैं। उसे तो ये सुखी नहीं कर सकते। मनुष्यको अपनी देहसे बढ़कर मनको सुखी रखना था। ये पदार्थ मनको अपने लोभमें फँसाकर चञ्चल अर्थात् दुःखी बना देते हैं। ये पदार्थ तो मनका सुख छीन लेते हैं।

मनकी चञ्चलता ही दुःख है । मनका चञ्चल हो जाना ही मनुष्यके दुःखका सच्चा स्वरूप है । यदि तुम अपने जीवनको सुखमें काटना चाहते हो तो मनकी इस चञ्चलतारूपी दुःखको पहचानना सीख लो । जब कभी जहाँ-कहीं अपने मनको चञ्चल होता पाओ, वहीं उसे दुःखी पहचान लो । चञ्चलताको हटाकर सुख प्राप्त किया करो । देखो, यह दुःख बाहर नहीं रहता । यह दुःख मनुष्यके मनमें रहता है । इस दुःखको बाहरसे नहीं, भीतरसे हटाना पड़ता है ।

जबतक मनचाही वस्तु नहीं मिलती, तबतक मन निश्चय ही चञ्चल रहता है । पर जब उसे मनचाही वस्तु मिल जाती है, तब वह उसे भोगनेमें चञ्चल रहता है । पीछे जब वह वस्तु नष्ट होने लगती है, तब वह उसे फिर पानेके लिये चञ्चल और अधीर हो उठता है । वह आशामें दुःखी, मिलनेमें दुःखी और नष्ट हो जानेपर भी दुःखी रहता है । मनमें इस प्रकारकी चाहका पालना दुःख या अप्रसन्नता है । यह तो शत्रुको ही पालना है ।

चाह मनुष्यके मनका ऐसा भयंकर रोग या शत्रु है, जो ऊपरसे देखनेमें मीठी लगती है । इसके फंदेमें फँसा हुआ मनुष्य दिन-रात अपने सुखकी माँग मिटानेके काममें इतना उलझ जाता है कि वह 'मैं मनुष्य हूँ' इस बातको भुला देता है । वह अपने विधाताके इस संदेशको भूल जाता है कि 'तू मनुष्य है और जा मनुष्यका-सा जीवन बिताकर आ ।' वह अपने जीवनके ऊँचे उद्देश्यको भूल जाता है ।

बालको ! तुम उदार बननेके लिये तो प्रसन्न रहो और प्रसन्न रहनेके लिये चाहको अपने मनमें मत रहने दो । चाहको छोड़नेके सिवा दूसरा प्रसन्न रहनेका कोई मार्ग आजतक संसारमें नहीं निकला ।

जो मनुष्य सुखकी माँग पूरी करनेके काममें फँस जाता है, फिर उसे कोई मनुष्योचित कर्तव्य नहीं सूझता । फिर उसे कोई अच्छे-से-अच्छा कामतक नहीं भाता । सुखकी माँग वह राक्षसी है, जो निरपराध दूसरोंका गलातक काटनेमें संकोच नहीं करती । इस सुखेच्छाने ही संसारमें अशान्ति फैला रखी है । यदि संसारमें शान्ति लानी होगी तो मनुष्योंको अपनी-अपनी सुखेच्छा दबानी पड़ेगी । सुखेच्छासे रहित लोगोंके बलसे ही संसारमें और समाजमें शान्ति रह सकती है । अच्छे काम केवल उस मनुष्यको भाते हैं, जो अपनी सुखेच्छाओं-की दासताको छोड़ देता है ।

पहले तो अपने मनमें इच्छा उत्पन्न होने देना और फिर उसे मिटानेमें लग जाना—यह व्यर्थका या मूढ़ताका काम है । यह तो ऐसा काम है, जैसे कोई पहले तो कीच-गारा लगा ले और फिर उसे धोता फिरे । अच्छा हो कि कीच-गारा पहले ही न लगाया जाय । जिस वस्तुको मिटाना पड़े उसे उत्पन्न न होने देना बड़ी बुद्धिमत्ताका काम है । पहले तो चाहको उत्पन्न होने देना और फिर उसे मिटानेकी चिन्तामें पड़ जाना—इससे तो यही अच्छा है कि चाहको उत्पन्न होते ही मार डाला जाय । यदि तुम अपने जीवनमें एक बार भी चाहको मार डालोगे, तो वह सदाके लिये मर जायगी और तुम प्रसन्नताके लिये बिना कुछ किये सदा प्रसन्न रहने लगोगे । सदा प्रसन्न रहनेकी कलाको पा जाना संसारकी सबसे बड़ी चतुराई और संसारका सबसे बड़ा काम है; क्योंकि चाह उत्पन्न हो रही है, केवल इसी कारण बिना विचारे उसे मिटानेमें जुट पड़ना—अपनेको अप्रसन्न करना है ।

चाहको उत्पन्न न होने देकर उसे सदाके लिये मिटा डालना ही प्रसन्न जीवन बितानेकी विधि या प्रसन्नता है । अपनी अप्रसन्नताको बढ़ाते चले जाना मनुष्यके लिये

अकर्तव्य है । जिस मनुष्यके मनमें अप्रसन्नता रहती है, वह किसीके भी साथ अच्छा बर्ताव नहीं कर सकता ।

मनको अप्रसन्न रखकर दूसरोंके साथ जो बर्ताव किया जाता है, उसे उदारताका उलटा द्वेष, शत्रुता या वैर कहा जाता है। अपने मनमें अप्रसन्नता उत्पन्न होने देना बड़ा भारी पाप है । यह मनुष्यका आत्मघात है । जो अपने मनमें अप्रसन्नता उत्पन्न होने देता है, उसे संसारमें मनकी चाह मिटाना ही केवल एक काम दीखता है ।

जो मनुष्य अपनी इच्छा मिटानेके स्वार्थको लेकर दूसरोंके साथ बर्ताव करता है, वह उन्हें ( दूसरोंको ) भी अपनी चाह मिटानेका साधन बना लेता है । वह दूसरोंसे भौतिक लाभ उठानेके पीछे इतना विवेकहीन हो जाता है कि उनसे अपनी चाह मिटानेकी वस्तु छीन लेना चाहता है। इस प्रकारकी भावनाएँ 'स्वार्थ' कहलाती हैं । स्वार्थ और मनकी चाह एक ही बात है और अप्रसन्नता भी उसे ही कहा जाता है । स्वार्थके मिटनेसे ही उदारता आती है। मनुष्य अपने मनमें चाह रखकर उसे मिटानेके लिये जितने पदार्थ इकट्ठे करता है, उनसे उसकी चाह नहीं मिटती, किंतु और अधिक बढ़ जाती है।

चाहको पालनेवाले मनुष्य धन-सम्पत्ति इकट्ठा करके अपना सुख बढ़ानेमें लगे रहते हैं । सुख बढ़ानेमें लगे हुए मनुष्य कुछ पदार्थोंको अपने सुखके साधन मानकर उन्हींसे लिपटकर बैठ जाते हैं । वे उनके नष्ट होनेके डरसे दुःखी रहते हैं और नष्ट होनेपर तो बहुत ही दुःखी होते हैं । ऐसे मनुष्य बड़े-बड़े मकान बनाते हैं, बहुत-से अच्छे वस्त्र पहनते हैं, बहुत-से रमणीक, स्वादिष्ट तथा इन्द्रियोंको सुखदायक समझे हुए पदार्थ इकट्ठे करके सुखी होना चाहते हैं । मनुष्य सुखी होनेके नामसे जिन-जिन वस्तुओंको अपनाते हैं, उनसे उन्हें सुख नहीं मिलता, किंतु सुखको बढ़ानेकी इच्छा जाग उठती है । जो अपना सुख बढ़ानेकी इच्छा करता है, वह दुःखी रहता है । अपना सुख अधिक करूँ—इस इच्छासे मनुष्य सदा ही दुःखी रहता है । सुख पाकर भी मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती, किंतु सुख बढ़ानेकी इच्छा होती है। जब कि सुख पानेसे भी शान्ति नहीं मिलती, उससे उसकी इच्छा और अधिक भड़क उठती है, तब यह बात मनुष्यकी समझमें आ जानी चाहिये थी कि सुखकी चाहमें सुख नहीं है अर्थात् सुख चाहनेसे सुख नहीं मिलेगा । या यों कहें कि सुख चाहना सुख पानेका मार्ग नहीं है; क्योंकि यह चाह तो मनुष्यको चञ्चल और पागल बना डालती है । सुखको तो आकर मनुष्यको शान्त और स्थिरबुद्धि करना चाहिये था । यदि वह आ गया होता तो मनुष्य शान्त और स्थिरबुद्धि हो जाता । मनुष्यके शान्त और स्थिर-बुद्धि न होनेसे ही यह पता चलता है कि उसे अभीतक यथार्थ सुख नहीं मिला ।

यदि मिले हुए सुखसे सुखकी चाह मिटती न देखो, प्रत्युत उसे और अधिक बढ़ती देखो तो तुरंत उस सुखके सुख होनेपर संदेह करो । अच्छा करो कि ऐसे सुखसे सुखका नाम ही छीन लो । ऐसा सुख सुख नहीं है, किंतु दुःख ही सुखका मोहन रूप धारण करके तुम्हें ठग रहा है ।

शान्तिका न आना ही तो सच्चा दुःख है । जब किसी वस्तुको पाकर तुम्हारे मनमें शान्ति न आती हो तब उस शान्ति न आनेको ही दुःख समझो । मनुष्यको शान्ति न मिले, यही उसका दुःख है ।

दुःख और चिन्ताका एक ही अर्थ है । भोगनेकी इच्छा या सुखेच्छा पूरी करनेवाले पदार्थ मुझे अधिक-से-अधिक किस प्रकार मिलें ? और अधिक-से-अधिक किस प्रकार मेरे पास टिकें ? ऐसी चिन्ताका मनमें बने रहना ही मनुष्यका दुःख है । यह दुःख पशुओंको नहीं होता । यह दुःख ही मनुष्यकी अशान्ति है । यह अशान्ति पशुओंपर नहीं है ।

यदि मनुष्य अपनेको इस अशान्तिसे बचा ले तो वह उदार बन जाय। जिसने अपनेको इस अशान्तिसे बचानेकी कला सीख ली, वह उदार है।

जो सदा सुखी रहेगा, वही उदार बन सकता है। जो स्वयं दुःखी है, वह उदार नहीं हो सकता। दुखिया मनुष्य चाहे आकाश चूमनेवाले विशाल भवन बना ले, चाहे उनमें बैठकर सुखके धोखेमें आकर खिल-खिलाकर हँस ले, गप्पे मार ले, तब भी इससे क्या होगा? जिसके मनमें दुःख बसा है, उसे इन सब बातोंसे भी सुख नहीं मिलेगा; क्योंकि सुख बढ़ानेकी चिन्ता नामका महादुःख तो उसके मनके भीतर घुसा ही बैठा है। वह उसके जीको जला रहा है और उसे दुखिया बना रहा है।

दुःख शरीरकी वस्तु नहीं है। दुःख तो मनकी बात है। मनुष्यका दुःख तो उसके मनका चिन्तामें फँस जाना है। मनमें सुख बढ़ानेकी इच्छा ही दुःख है। मनमें सुख बढ़ानेकी चिन्ता रहेगी तो सारा जीवन नीरस हो जायगा।

संसारके मूर्ख लोग सुख बढ़ानेकी इच्छा या चिन्ता नामके दुःखसे घायल हैं। चितामें मनुष्यकी देह मरनेके पश्चात् जलती है, किंतु चिन्तामें वह जीवनभर जलती रहती है। ये सब चिन्ताके घायल लोग अपना घाव भरनेके लिये जीवनभर दूसरोंके सुख-साधन छीननेमें लगे रहते हैं। ये मांस मुँहमें पकड़े हुए कौएके पीछे भागनेवाले कौओंके समान एक-दूसरेके साथ कठोर-से-कठोर बर्ताव करनेमें संकोच नहीं करते।

लोभी मनुष्य अपने घरवालोंतकको लूटकर अपना लोभ पूरा करता है और स्वयं भी दूसरे लोभियोंको लोभ पूरा करनेका साधन बनता है। लोभियोंका जो परस्परमें व्यवहार होता है, उसे ही 'शत्रुता' कहते हैं। लोभने ही शत्रुताको उत्पन्न किया है। यद्यपि ये लोभी लोग अपनी शत्रुताको सब समय बाहर प्रकट नहीं करते, परंतु ये अवसर मिलते ही एक दूसरेके खुल्लमखुल्ला शत्रु बन जाते हैं। जो कभी भी किसीका शत्रु बन सकता है, वह सदा ही उसका शत्रु है। ये एक-दूसरेके सुख-साधनोंको बलपूर्वक भी ले लेते हैं। चोरीसे भी उठाते हैं, डाकासे भी लूट लेते हैं और गुप्त उपायोंसे भी छीन लेते हैं। ये जीवनभर इन्हीं कामोंमें लगे रहते हैं। इन लोगोंका सारा जीवन लूट-खसोटमें ही समाप्त हो जाता है। क्या मनुष्यका जीवन अपने साथियों और पड़ोसियोंकी लूट-खसोट करनेके लिये ही बना है?

इन लोगोंके लूट-खसोटके उपाय ऊपरसे देखनेमें चाहे जितने भोले-भाले और भले दीखते हों, परंतु वे सब चोरी हैं, वे सब लुटेरापन हैं और वे सब अनधिकार हैं। क्या मनुष्यका जीवन ऐसे नीच काम करनेके लिये ही बना है?

जिस सुखकी चाह मनुष्यको उदार नहीं रहने देती, जिस सुखकी चाहसे मनुष्य एक दूसरेको, यहाँतक कि घरवालोंतकको लूटते नहीं लजाता और दूसरोंसे लुटना सह लेता है, उस सुखको सुख मत मानो। उसे तो ठगिया मानो और भूलकर भी उसकी इच्छा मत करो।

रूपवान्, रसीले, स्पर्श-सुख देनेवाले आदि-आदि पदार्थोंको भोगनेकी इच्छा करना ही सुखकी चाह कहलाती है। यह वह चाह है जो मनुष्यको मनुष्य नहीं रहने देती और उसमें महत्ता नहीं आने देती। यदि तुम उदार बनना चाहो तो इन बाहरवाले पदार्थोंकी इच्छाको त्यागो। इस इच्छाको त्याग देनेके पीछे तुम जो भी कुछ करोगे, वह सब उदारता कहायेगा। उसे ही मनकी सरल, उच्च तथा प्रसन्न अवस्थाकी रक्षा करना कहेंगे। उसे ही कर्तव्य-परायणता कहेंगे और उसे ही प्रसन्न रहना भी कहेंगे।

# वेणुगीत

( नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )

[ गताङ्क पृ० ९९१ से आगे ]

नटवर-शेखर नव-जलधर-विनिन्दक श्यामल वपुपर द्रवित स्वर्णके समान समुज्ज्वल पीतवर्ण है उनका। यह उपमा कहीं लग नहीं सकती। भगवान्‌का जो वर्ण है वह नीला नहीं है। ये श्याम नहीं हैं। तुलसीदासजीने थोड़ी इसमें खोज-बीन करनेकी चेष्टा की। उन्होंने नील-सरोरुह, नीलमणि, नील नीरधर श्याम—तीन उपमाएँ दीं। इनपर उपमाएँ सब बैठतीं नहीं। ये तो उपमातीत हैं, अनुपमेय हैं; किंतु भक्त लोग—प्रेमी लोग अपने देखे हुए रूपका वर्णन भाषामें तो आता नहीं—संकेतसे करते हैं। यदि ये कह दें कि वे केवल नील कमलके समान हैं। तो नील कमलमें प्रकाश नहीं है, उज्ज्वलता नहीं है। कोमलतामें तो नील कमलके समान कोमल हैं और नीलमणिके समान प्रकाशयुक्त एवं चिकने हैं। नीलमणि हाथ लगानेपर बड़ी चिकनी जान पड़ती है, साथ ही बड़ी कठोर भी होती है, पर प्रकाशयुक्त होती है। वे नील नीरधरके समान रसवान् हैं। नीरधरमें रस भी है, प्रकाश भी है, कोमलता भी है। इनका जो नील श्याम वर्ण है वह नीलकृष्ण भी उज्ज्वल आभायुक्त हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप है नील हरिताभ उज्ज्वल आभायुक्त, **'केकीकण्ठाभनीलम्'**। जैसे मयूरके गलेमें जो नीलिमा होती है उसके साथमें हरीतिमा भी रहती है। इसीलिये बंगालके लोग भगवान् श्रीरामकी हरे रंगकी मूर्ति बनाते हैं। श्रीकृष्ण हैं नीलकृष्णाभ। नीलकृष्ण वर्णपर पड़ रही है यह आभा। स्वयं उनके अंदरसे प्रकाशका पुञ्ज निकल रहा है, नित्य विद्युत्‌की भाँति उनके रोम-रोमसे प्रकाश निर्गत हो रहा है। भगवान्‌के इस प्रकाशपुञ्जमें ही उनका श्रीविग्रह रहता है, जो अनन्त कोटि सूर्यके समान उज्ज्वल प्रकाशयुक्त है तथा तापरहित, उज्ज्वल, अनन्त-अनन्त चन्द्रमाओंके सुधा-शीतल प्रकाशके साथ समन्वित है।

इसी प्रकार श्रीकृष्णका जो नीलकृष्णाभ उज्ज्वल वर्ण है, उसपर यह पिघले हुए स्वर्णके समान समुज्ज्वल पीतवर्ण है। इनके पीले वर्णकी उपमा यहाँके किसी पीले रंगसे नहीं हो सकती। ये नारंगी रंगके भी नहीं हैं। अतसी-पुष्पके समान भी नहीं हैं। ये विचित्र दिव्य पीतरंग हैं, जो भर्गस्वरूप है। इसकी थोड़ी-सी उपमा यही है कि गलाये हुए सोनेकी तरह, जो कड़ा नहीं होता। इनके जो वस्त्र हैं, वे बड़े सुकोमल हैं। ये रेशमी कपड़े क्यों पहनते हैं, इसलिये कि ये सुकोमल हैं, अतः सुकुमार अङ्गमें उनके द्वारा आराम मिलता है पर उनकी सुकुमारता भी और इनकी शक्तिमत्ता भी **'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'** हैं।

जब कंसके दरबारमें प्रवेश किया उन्होंने, तब पहलवानोंने देखा कि ये तो वज्रके समान शरीरवाले आ गये, और माता-पिताने देखा कि ये तो सुकुमार हैं, हमारे नन्हें-से बच्चे हैं। भगवान् रामचन्द्र जब लङ्का-विजय करके आये और माताकी गोदमें बैठने लगे, तब कौसल्या मैयाने उन्हें गोदमें बैठा लिया। वे सिरपर एवं बदनपर हाथ फिराने लगीं और हाथ फिराती-फिराती बोलीं—'ये सब लोग पगले हैं, ऐसा मालूम होता है'। पूछा क्यों? 'हमारे इस रामने रावणको मारा! यह कभी सम्भव है भला? कितना सुकुमार है! कितना कोमल है। यह कहीं बाण मार सकता है? बाण सह

सकता है भला ? यह काम तो गुरुजीकी कृपाने ही किया है।' श्रीरामने कहा—'हाँ माँ, यह बात बिल्कुल ठीक है, यह सारा काम तो वसिष्ठजी महाराजकी कृपाने ही किया है। हमने कुछ नहीं किया।' माताको उनके अङ्गोंमें कहीं कठोरता दिखती ही नहीं। कोमल-से कोमल, कठोर-से-कठोर सब कुछ हैं भगवान्।

बड़े सुकोमल हैं ये। बीच-बीचमें ऐश्वर्यका जो प्रकाश मिलता है, वह असुरादिको मारनेके लिये। उस समय उतनी देरके लिये, उनके लिये कठोर बन जाते हैं ये। श्रीगोपाङ्गनाओंके लिये, माताओंके लिये, सखाओंके लिये ये सुकोमलतम हैं।

इनके सुकोमल नील श्याम, नीलकृष्णाभ उज्ज्वल शरीरपर यह वस्त्र बड़ा सुकोमल और रसमय है। सोनेकी उपमा देनेपर सोना बड़ा कड़ा पत्थर-सा होता है, ऐसी बात नहीं। द्रवित ( पिघला हुआ ) सोना जिसका सारा-का-सारा मैल निकाल दिया गया, ऐसा जो स्वर्णमय समुज्ज्वल पीतवर्ण है, इस प्रकारका उनके कपड़ोंका—वस्त्रोंका वर्ण है, रंग है।

पीला वस्त्र ही क्यों पहना उन्होंने ? श्रीराधाजी और गोपाङ्गनाओंका जो वर्ण है, यह मन्दपीताभ उज्ज्वल वर्ण है हल्का-सा पीलापन लिये हुए। बड़ा सुन्दर हल्का-हल्का पीलापन, अत्यन्त उज्ज्वल आभायुक्त है। उन्होंने अपने वस्त्रका रंग रखा उनके अङ्ग-वर्णका। राधाजीका नील वसन है। मानो भगवान्‌के अङ्गसे ही आच्छादित है। नित्य-निरन्तर श्यामसुन्दरका श्रीअङ्ग नील है न! श्रीश्यामाजी—राधाजी नील वर्णका वसन इसलिये स्वीकार करती हैं; क्योंकि यह श्यामसुन्दरका अङ्ग-वर्ण है। मानो श्यामसुन्दरके द्वारा ही उनका सारा अङ्ग श्याम-वर्णसे आच्छादित है। श्यामसुन्दरका नील श्रीविग्रह और श्रीराधा तथा श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रेममय विग्रह ( शरीर ) पाञ्चभौतिक नहीं हैं। ये सब दिव्य चिन्मय भगवत्स्वरूप ही हैं। पुराणोंमें ( ब्रह्मवैवर्त और पद्मपुराणमें) स्पष्ट शब्दोंमें—व्याख्यामें नहीं—श्रीकृष्णके अपने वाक्य हैं—भगवत्स्वरूपा जो गोपाङ्गनाएँ हैं, उनके प्रेमसे उनके प्रेमका प्रतीक उज्ज्वल पीताभ वर्णका वस्त्र वे धारण करते हैं। इनके प्रति अपनी प्रगाढ़ प्रीतिका ज्ञापन करते हुए, उनके पीत वर्णके वसनोंसे अपने अङ्गोंको आच्छादित करके अपने अन्तरकी महान् प्रीतिको वे बतला रहे हैं।

उनके नीलमणि-सदृश वक्षःस्थलपर **'वैजयन्तीं च मालाम्'** पाँच वर्णोंके पुष्पोंकी माला सुशोभित है—वैजयन्ती माला। यह माला मृदुमधुर गतिसे आन्दोलित होती है। ज्यों-ज्यों यह आन्दोलित होती है, त्यों-त्यों श्रीगोपाङ्गनाओंके हृदयमें नये-नये भावोंका आन्दोलन चलता है। उस आन्दोलनसे उनका हृदय आन्दोलित होता रहता है नित्य नया। यह वैजयन्ती माला पाँच रंगके पुष्पोंकी है। पाँच रस हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। ये पाँच रस मानो उनके हृदयपर झूलती हुई मालामें नाच रहे हैं। इसलिये यह माला श्रीगोपाङ्गनाओंके हृदयमें पञ्चविध भाव-तरंगोंको उठा-उठाकर अनेक स्वरोंसे उनके हृदयमें भावको लहरा रही है।

साथ ही ये श्यामसुन्दर अधर-सुधासे मुरलीके छिद्रोंको आपूरित कर रहे हैं, भर रहे हैं, **'आपूरयन्'**—बाहरी भाव इसका यह है। यद्यपि मुरलीके साथ उनकी तुलना नहीं होती, जो भगवान्‌के अपने हो जाते हैं, उनके छिद्रोंको भगवान् अपने अंदरके रससे भर देते हैं। उन्हें अपने छिद्र नहीं देखने पड़ते। दूसरी बात यह है—यह भी बाहरी बात है कि श्रीकृष्णका नित्य सङ्ग प्राप्त करके भी छिद्र रह जाय ? यह बड़े क्षोभकी बात है। यह मुरली है नित्यसंगिनी भगवान्‌की। भगवान्‌ने सोचा कि यह ठीक नहीं। अपना, अपने

अधरका अमृत देकर उन छिद्रोंको पूर्ण करनेकी भगवान्ने इच्छा की । अपनी अंगुलियोंसे उन छिद्रोंको ढक लेते हैं वे तथा अपने अधरोंके द्वारा अधर-सुधा देकर फूँक मारते हैं, फूत्कार करते हैं । नहीं तो मुरली बजती नहीं । वे उसमें अपना अधर-सुधारस ढाल देते हैं, किंतु ये छिद्र बंद नहीं होते । मुरलीमें कोई बाहरी वस्तु, निन्दाकी वस्तु नहीं बची । जिसका अंदर सूना हो जाय एकदम, बाहरसे अच्छा सङ्ग भी प्राप्त करे— ऐसी स्थिति है मुरलीकी । मुरली भगवान्के रसके प्रवाहको दूर-दूरतक वितरित करनेवाली है । सात छिद्रोंके द्वारा मुरली अपने अंदर भगवान्के रसको भरती है । उन्हीं छिद्रोंके द्वारा निनादके रूपमें निकलकर— वंशी-ध्वनिके रूपमें निकल-निकलकर सारे विश्वको अमृतमय बना देती है । यह मुरलीका काम है । भगवान् अपने अधर-रसका उसके अंदर प्रवेश करवाते हैं, अधर-रस ढालते हैं । उसमें नौ छिद्र रहते हैं, किसीमें सात रहते हैं । आठ हुए बंद और एकमें फूँका तो वह रस जाकर नीचेवाले छिद्रसे बाहर निकल गया ध्वनि बनकर, रसका प्रवाह बनकर । उसने सारे जगत्को उस रससे आप्लावित कर दिया ।

भगवान्की मुरली भगवान्की परम सहायिका है उस रसका विस्तार करनेमें । मुरली न होती तो गोपाङ्गनाएँ आतीं कैसे ? मुरली भी गोपी थी । मुरली जो रसमयी ध्वनि बजाती है वह उसकी अपनी ध्वनि नहीं है । अपने तो शून्य है, मौन है । उसके अंदर कुछ हो तो बजाये ! बजेगी कैसे ? अंदरमें कुछ है ही नहीं । वह स्वयं मौन है । श्यामसुन्दर जब चाहते हैं, तभी मुरलीको माध्यम बनाकर उसीके द्वारा रसदान तथा रसपान करते हैं । उस अपने दिये हुए रसको मुरलीके द्वारा ही विश्वके प्राणियोंमें वितरित करते हैं । जहाँ जैसा प्राणी होता है, वह अपने अनुरूप उसे ग्रहण करता है । गोपियाँ, ब्रह्माजी, शंकरजी और माताएँ अपने-अपने भावके अनुसार सुनती हैं । भगवान्के श्रीमुखसे निकले हुए उस मधुर नादको, जो मुरलीमें अधर-रसके रूपमें अंदर गया है, फिर वही मुरलीके द्वारा नाना रूपोंमें सुशोभित होकर जगत्के जीवोंका कल्याण करनेमें प्रवृत्त होता है ।

अनुराग जहाँ है, वहाँ मुरली विशेष भावोद्दीपनका साधन मानी गयी है । मुरलीके द्वारा ही सारे भाव उद्दीप्त होते हैं । जबतक मुरली नहीं बजती, भगवान्का वह मधुर निनाद सुननेमें नहीं आता, तबतक उद्दीपन विभावकी पूर्णता नहीं होती ।

भगवान्के रस-प्रवाहके दो तरहके भाव होते हैं— एक होता है, परम ज्ञानका; दूसरा होता है परम प्रेमका । भगवान्के अन्तरके परम ज्ञान, उपदेश या तत्त्वको वे ब्रह्मनिष्ठ आचार्योंके श्रीमुखसे प्रवाहित करते हैं । दूसरा परम प्रेमरसका जो भाव है, उसे मुरली या मुरलीके समान ही किसी प्रेमीके श्रीमुखसे अथवा उसके जीवनके आचरणसे बहाते हैं । यह आता है वहींसे । जैसे मुरली सूनी है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी भी जगत्-प्रपञ्चसे, वाणीसे, इन्द्रियोंसे सर्वथा शून्य है । वह कहाँ-तक बोलेगा, उसके अंदर बोलनेकी कुछ वस्तु रही नहीं, किससे बोलेगा ? वाणीमें उसके अहंता रही नहीं । इसी प्रकार श्रीगोपाङ्गनाएँ और मुरली—ये अन्तःसार-शून्य हैं । अन्तःसारशून्यका अर्थ क्या ? अन्तरमें वे भगवान्को नहीं रखतीं—ऐसी बात नहीं है । वे केवल भगवान्के रसको ही रखती हैं, और सब वस्तुओंको निकाल चुकीं । इसीलिये इनका उपनाम शास्त्रोंमें आया है अकिंचन । अकिंचन दरिद्रको कहते हैं । उनकी यही महान् अकिंचनता भगवान्को उनके पास रहनेके लिये लालायित कर देती है । भागवतके एकादश स्कन्धमें आया है अकिंचन भक्तोंका वर्णन । भगवान्ने वहाँ कहा है कि

'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः'—इन भक्तोंकी चरण-धूलिसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं उनके पीछे-पीछे सदा चला करता हूँ। यह भगवान्‌की बात है। यह भक्तोंके शरीरका महत्त्व नहीं है, वह महत्त्व तो उनके अंदर जो भगवान्‌का रस भरा हुआ है, उसका है। भगवान्‌के रसकी वह घनीभूत मूर्ति है। मुरली भगवान्‌के रसकी मूर्ति है। इस मुरलीके द्वारा ही भगवान् अपने रसका प्रवाह बहाते हैं। (क्रमशः)

# आनन्द ब्रह्मचर्यकी पीठ

( लेखक—श्रीबृजमोहनजी मिहिर )

पहले, जब आजकलकी भाँति दूषित वातावरण नहीं था, ब्रह्मचर्यकी रक्षा सुलभ थी और स्वतः ही हो जाया करती थी। उस समयका रहन-सहन, वेष-भूषा, आचार-विचार, शिक्षा-प्रणाली और सभ्यता आदि लोगोंको ब्रह्मचर्य-व्रतके धारण करनेमें सहायता पहुँचाते थे। आजकलकी परिस्थिति ठीक इसके विपरीत है। पहले बालजीवन पवित्र और सरल था। लोगोंका आहार-विहार नियमित था। वे सत्यके उपासक होते थे। अतः ब्रह्मचर्य-व्रतमें स्थित रहनेमें उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी। ब्रह्मचर्य-व्रतको स्थायी बनानेके लिये आश्रम-धर्म भी उसका एक प्रधान अङ्ग था। प्राचीन कालके पुरुष गृहस्थाश्रममें केवल इन्द्रिय-सुखके लिये नहीं प्रवेश करते थे। विद्यार्थी-जीवन समाप्त करके विद्यालयसे निकलनेके पश्चात् जिनका उद्देश्य प्रवृत्ति-मार्गमें आकर सृष्टि उत्पन्न करना रहता था, केवल वे ही गृहस्थ-धर्म स्वीकार करते थे। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेपर भी उनका जीवन विलासी नहीं होता था, प्रत्युत किसी मुख्य उद्देश्यकी पूर्तिके हेतु इस आश्रममें भी वे अपना रहन-सहन शुद्ध एवं संयमित रखते थे। अपने-सदृश ही एक नूतन आकृतिको उत्पन्न करनेके निमित्तसे वे रति-रहस्यमें सम्मिलित होते थे, अन्यथा नहीं। जीवनमें केवल कुछ ही ऐसे अवसर होते थे, जब उन्हें अपनी शक्तिको बहिर्मुख करनेकी आवश्यकता पड़ती थी। संतान हो जानेके बाद उसके युवावस्था प्राप्त कर लेनेके पूर्व ही, वे गृहस्थाश्रमको छोड़कर वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करते थे। आजकलकी तरह उस समय ऐसी भद्दी प्रथा कहीं देखनेको भी नहीं थी कि एक ही परिवारके पिता और पुत्र दोनों चिरकालतक संतानोत्पत्तिके कार्यमें प्रवृत्त रहें।

आजकल जीविकाका प्रश्न एक विश्वव्यापी विकट समस्या हो रहा है। स्वतन्त्र देशोंने कृत्रिम उपायोंद्वारा इसके हल करनेका कुछ आयोजन किया है, किंतु उन्हें फिर भी पूरी सफलता नहीं मिल रही है। जिस समय भारतवर्षकी जन-संख्या कम थी और भूमि उर्वरा एवं रत्नगर्भा होनेके कारण भोजन, वस्त्र तथा जीवनकी अन्य आवश्यक सामग्रीका अभाव नहीं था, उस समय विवाहके शुभ अवसरपर वर-वधूको यह आशीर्वाद दिया जाता था कि वह दम्पति अनेक संतानोंसे सम्पन्न हो। देश तथा समाजकी उस समयकी स्थिति एवं आवश्यकताके अनुसार ऋषियों और शुभचिन्तकोंका यह आशीर्वाद उनके लिये शुभ वचन था; किंतु वर्तमान परिवर्तित स्थितिमें वैसी शुभकामना दुःखका मुख्य कारण बन सकती है।

संसारके इस अशान्त वातावरणमें, देशमें भीषण गरीबी एवं आवश्यकतासे अधिक जनसंख्या हो जानेसे यहाँके युवक-युवतियोंका युगके अनुसार यह मुख्य धर्म हो गया है कि वे जहाँतक हो सके पूर्णरूपसे पवित्र रहकर अपनेको विवाह-बन्धनसे मुक्त रखनेका प्रयत्न

करें । विवाह-बन्धनसे अपनेको अलग रखना तथा आचरणको पूर्ण संयमशील बनाना चरित्रकी पवित्रताकी पराकाष्ठा है । मन और शरीर दोनोंसे ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना निस्संदेह बहुत ही कठिन है, किंतु मन और शरीरके होम किये बिना उसकी पूर्णता कदापि सम्भव नहीं है । इस सम्बन्धमें हमें इस बातको हृदयंगम करना चाहिये कि यदि मनुष्य और ऊपर उठना चाहता है तो यह आवश्यक है कि उसके मनके अंदर स्त्री और पुरुष-भावकी कोई पृथक् सत्ता न रह जाय । स्त्री और पुरुषकी पृथक् सत्ता सृष्टिका कारण होती है, किंतु जिस समय प्रकृति पुरुषमें विलीन हो जाती है, उस समय उसकी सृजन-क्रियाका कार्य समाप्त हो जाता है । स्त्रियाँ प्रकृतिरूपिणी हैं । अतः पुरुषोंके लिये यह कहा जाता है कि वे प्रकृतिको देखते हुए उससे शनैः-शनैः अलग हो जानेकी चेष्टा करें । इस सिद्धान्तको ही सामने रखकर प्राचीन कालमें स्त्री-पुरुषोंके लिये आश्रम-धर्मका आयोजन किया गया था; किंतु आज भी यह जन-कल्याणके लिये लाभदायक एवं उपयोगी है । अतः आधुनिक कालके स्त्री-पुरुषोंको इस सिद्धान्तका मनन करके उससे लाभ उठाना चाहिये । इससे एक दूसरा लाभ यह भी होगा कि ऐसे स्त्री-पुरुष संसारकी आर्थिक समस्याके प्रश्नको हल करनेमें सहायक होंगे ।

इस कठिन विधानको समझने तथा उसपर अमल करनेके लिये यह आवश्यक है कि उसमें हृदय और मन दोनोंका पूर्ण सहयोग हो । दोनोंके मेलसे कार्य सरल हो सकेगा । अन्यथा मनुष्य अपनी वास्तविक आवश्यकताको न समझकर या तो उसे बलात्कारसे दमन करनेकी चेष्टा करेगा या अनर्गल भोगवासनाओंमें डूब जायगा । दोनों ही दशाएँ असङ्गत हैं । चरित्र कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे बलात् किसी नियम अथवा नियन्त्रणमें बाँधकर सुधारा जा सके । किसी भावनाको दमन करके जब कोई बात चरित्रमें लानेकी चेष्टा की जाती है, तब उसका परिणाम प्रायः दुःख और क्लेश ही होता है ।

चरित्र एक स्वाभाविक वस्तु है । इसे बिना किसी शर्त और दबावके समझना चाहिये । जब हमारा मन किसी भोगके प्रति लालायित है, तब हमें उन बातोंके समझनेकी आवश्यकता है, जो हमें उस भोगको भोगनेके लिये बाध्य करती हैं, न कि उसके लिये बाह्य नियम और किसी प्रकारके नियन्त्रणकी । नियम और नियन्त्रणके अधीन होकर जो बात की जायगी, उसमें कर्ताकी इच्छा, प्रसन्नता और उसके विचारकी कोई गम्भीरता न होगी । उस समय नियम और नियन्त्रणकी शृङ्खला केवल कुछ समयके लिये उस इच्छाका दमन करेगी, किंतु अवसरके सम्मुख आनेपर पहले जितना इच्छाका दमन किया गया था, उससे भी अधिक वेगके साथ उसकी पूर्ति की जायगी । अतः चरित्र-सम्बन्धी बातें हठपूर्वक पालन की जानेवाली नहीं हैं ।

मनुष्य जब अपने चरित्रमें किसी बातको लाना चाहता है, तब उसे उसकी ऊपरी बातोंको समझनेकी उतनी चेष्टा नहीं करनी चाहिये, अपितु वह उस इच्छाके रहस्यको समझे और उसकी गम्भीरता और आन्तरिक स्थिति समझते हुए अपनी इच्छाका विश्लेषण करे । जिस बातको मनुष्य अपने चरित्रमें लाना चाहता है, उसके प्रति उसकी पूरी रुचि होनी चाहिये; क्योंकि पूरी रुचिसे किसी बातको छोड़ने या अपनानेसे वह प्राणी उस बातको भली-भाँति अपने चरित्रमें ला सकेगा । चरित्रके सम्बन्धमें इन बातोंका ध्यान रखते हुए जब कोई बात अपनायी जायगी, तब वह पूरी उतरेगी और उसका परिणाम भी अच्छा होगा । जिस विचारका बलपूर्वक दमन किया जाता है, उसका कालान्तरमें उभाड़ होता है, किंतु ज्ञानसहित इच्छानुसार

जो काम किया जाता है, उसके लिये प्रयास नहीं करना पड़ता। ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करनेके इच्छुकोंको इन मनोवैज्ञानिक तथ्योंका जानना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य-व्रतके पालकके लिये भोजनकी ओर भी ध्यान देनेकी आवश्यकता है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जैसा भोजन किया जाता है, वैसा ही शरीर और मन बनता है। अतः ऐसा भोजन नहीं करना चाहिये, जो अंदरके तन्तुओंको उत्तेजित करे। अधिक सब्जी, मोटे आटेकी रोटी, कुछ चावल, ताजे फल, आधी छटाँकतक घी और आध सेरतक दूध ब्रह्मचर्य-पालकोंके लिये उत्तम भोजन है। कुछ भूख रखते हुए भोजन समाप्त करना चाहिये। रात्रिमें रोटी-सब्जीका सादा भोजन ही सूर्यास्ततक कर लेना लाभदायक है। ब्रह्मचारियोंके लिये रात्रिमें दूध-सेवन भी अहितकर है। बासी भोजन और मांसका सेवन कभी न किया जाय। गरम मसाला, मिर्च, गुड़, चीनी, नमक और तेल ब्रह्मचर्य-पालनके लिये हानिकर हैं। अतः इन्हें भी त्याज्य समझना चाहिये। नमकका उपयोग छोड़ देना कठिन अवश्य है, किंतु छोड़ दिया जाय तो विशेष हितकर है।

जो व्यक्ति स्वभाव और मनसे ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते हैं, उन्हींको इस व्रतका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मचारीके मन और शरीर दोनोंका पवित्र रहना आवश्यक है। मनका व्यापार शरीरके कार्यसे कहीं कठिन है। मनमें वासनाके रहते किसी अनुष्ठानके प्रति स्थिर रहनेके लिये यदि बलात्कार किया जायगा तो उसका परिणाम बहुत घातक होगा। इससे मनुष्यका चित्त उद्विग्न हो जाता है और जीवनकी सरसता नष्ट हो जाती है। मनमें किसी वासनाको रखते हुए ऊपरसे रोक-थाम करके शरीरद्वारा उसके विरुद्ध आचरण करनेपर प्राण-जगत्में बहुत बड़ा आघात पहुँचता है। वासनाको रखते हुए जिस-किसी बातको शरीरद्वारा साधक रोकना चाहता है, उसका परिणाम प्रायः उससे उलटा होता है। मनमें उसकी वासनाका वेग प्राण-जगत्में स्पन्दनके कारण एक बलवान् संस्कार बनकर उसे सदा अनिष्ट पहुँचाया करेगा।

ऊपर लिखा जा चुका है कि स्त्री-सत्ताका पुरुषके अंदर विलीन हो जाना ही ब्रह्मचर्य-व्रतकी चरम सीमा है, किंतु यह उच्च आदर्श इतना कठिन है कि इसके साधनमें कोई विरला ही सफल हो सकता है। इसके नीचे उतरकर साधकको यदि इतनी सफलता भी मिल जाय कि स्त्रीकी आकृति उसके मनमें बसकर उसे उद्विग्न न कर सके तो यह भी थोड़ी सफलता नहीं है। स्त्रियोंके प्रति राग छोड़ देनेसे ही यह सम्भव है, अन्यथा नहीं। स्त्रीका ध्यान रखते हुए उसके प्रति आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जब यह व्रत इतना कठिन है, तब मनुष्य इसका पालन कैसे कर सकता है? जितना कठिन यह प्रश्न है, उतना ही कठिन, यदि कुछ दिया जा सके, तो उसका उत्तर भी होगा।

स्त्रीकी बात तो जाने दीजिये, लोग छोटी-छोटी वस्तुओंके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं, फिर विवाह तो वयस्क स्त्री-पुरुषोंके लिये जीवनका बहुत बड़ा प्रलोभन जान पड़ता है। किसी अच्छे मकान, सुन्दर वस्त्र, उत्तम भोजन-सामग्री आदिको देखकर लोग इस प्रकार उनके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं, मानो उनका व्यक्तित्व कोई वस्तु ही नहीं है। संसारकी छोटी-से-छोटी वस्तु उनके मनको अपने साथ उड़ा ले जाती है। पानेकी कोई आशा न होते हुए भी लोग इस प्रकार उसके पीछे पड़ते हैं कि मानो उनके पास अपनी कोई वस्तु है ही नहीं। किसी वस्तुके चाहनेपर उसके न मिलनेपर मनकी यही दशा होती है। इन सब बातोंके मूलमें हमें एक ही कारण प्रतीत होता है कि हमलोग

अंदरसे बहुत दीन हैं, इसीलिये मन चारों ओर दौड़ता है। लोगोंकी यह दयनीय दशा ही उनकी विपत्तिका मुख्य कारण है। संसारकी किसी वस्तुके चाहनेपर हमें मनको उसके प्रति अर्पित कर देना पड़ता है, फिर भी उसकी प्राप्ति सदा साध्य नहीं है। यदि इच्छित वस्तु प्राप्त भी कर ली गयी तो उसके उपभोगके लिये दूसरोंपर निर्भर करना ही सबसे बड़ी गरीबी है। बाह्य सभी सुखोंके लिये हमें उनके साथ रहना और चलना पड़ता है, जिसका अन्तिम परिणाम सदा दुःख है।

यह हो सकता है कि बहुत-सी बातोंमें मनुष्य उसकी गहराईतक न पहुँच सकता हो, किंतु सत्य कभी दो नहीं हो सकता। सत्य सबके लिये और सब स्थानपर एक है। इस हैसियतसे इसके रहस्यको समझनेपर प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक ढंगसे अपने जीवनमें यह अवश्य सोचेगा कि क्या बाहरकी वस्तुओंसे सुख प्राप्त किया जा सकता है। उसका दुःख ही उसके सामने इस रहस्यको खोलता है। जब वह अपने दुःखके रहस्यको समझ लेगा, तब वह बाहरकी वस्तुओं-को छोड़कर अंदरके सुखकी खोज करेगा। ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करना उन्हींके लिये शक्य है, जिनका मन बाहरके प्रलोभनोंमें न पड़कर अन्तर्मुख हो जाय। आत्मामें प्रतिष्ठित हो जानेपर फिर संसार उस व्यक्तिको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता। इसमें जो भी मनुष्य सफलता प्राप्त कर सके, उसीका जीवन धन्य है।

ब्रह्मचारीका जीवन सर्वोत्तम है। आधुनिक कालमें संसारकी दुर्दशाको देखते हुए जो व्यक्ति इस व्रतका पालन करनेमें समर्थ होता है, वह केवल अपना ही कल्याण नहीं करता, अपितु उससे सारे संसारका हित होता है। वह अपने आचरण और शुद्ध व्यवहार तथा आदर्श जीवनद्वारा समाजमें नवीन शक्तिका संचार करेगा। उसका पवित्र जीवन दूसरोंके लिये आदर्शमय जीवनका एक ज्वलंत उदाहरण होगा। ब्रह्मचारीका जीवन दीर्घसूत्री न होगा। शुद्ध मन और स्वस्थ शरीर-वाला छोटा बालक जैसे प्रसन्न रहता है, वैसे ही ब्रह्मचारी भी आत्मानन्दमें निरत रहेगा। बालकके मनमें जैसे किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं रहता, वैसे ही ब्रह्मचारीका मन भी वृत्तिशून्य होगा। समत्वकी भावना होनेसे ब्रह्मचारी सदा जगत्‌के कल्याण-सम्पादनमें लगा रहेगा, किंतु न वह किसीके प्रति अनुराग दिखलायेगा और न किसीकी ओर आकृष्ट होगा। इस प्रकार ब्रह्मचारीका जीवन परम पवित्र और शुद्ध जीवन है।

अब बहुत कठिन प्रश्न यह आता है कि ऐसा ब्रह्मचर्यमय जीवन कैसे व्यतीत किया जाय? सही बात तो यह है कि इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। अपनी ओरसे यदि क्षेत्र तैयार नहीं कर लिया गया है तो दूसरोंका लेख इसमें कोई सहायता नहीं पहुँचा सकता। हाँ, जब किसी व्यक्तिने अपनी ओरसे ब्रह्मचर्य-व्रतकी धारणाको दृढ़ बना रखा है तो तदनुकूल दूसरोंके लेख या सत्सङ्गसे भी उसे सहायता मिलेगी। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि जो मनुष्य आत्मानन्दमें स्थित नहीं रह सकता, उसके लिये ब्रह्मचर्य-व्रतकी कल्पना आकाशमें पुष्प देखनेके सदृश होगी। अतः यदि कोई व्यक्ति ब्रह्मचारी होना चाहता है तो उसे आत्मानन्दी होना चाहिये। इसके बिना ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन असम्भव है।

इससे सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा प्रश्न यह हो सकता है कि जो लोग इतनी कठिन तपश्चर्या नहीं कर सकते, उन्हें क्या करना चाहिये? इसका स्वाभाविक उत्तर यही हो सकता है कि वे गृहस्थाश्रम-धर्म स्वीकार करके मर्यादोचित जीवन व्यतीत करें। यह भी कोई सरल काम नहीं है। गृहस्थाश्रम-जीवन स्वीकार करनेका

अर्थ है अपने ऊपर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारीको लेना। केवल उसीको विवाह-बन्धनमें फँसनेका हक है, जो सब प्रकारसे इसका पात्र हो अर्थात् जिसका मन बलवान् और शुद्ध है, शरीरद्वारा जो स्वस्थ है, जिसे कोई संक्रामक रोग नहीं है, जिसका परिवार भी ऐसे रोगोंसे मुक्त रहा हो, जिसके सम्मुख कठिन आर्थिक प्रश्न न हो, जिसका हृदय कोमल और दयालु हो और जो देखनेमें कुरूप न हो। इन बातोंके अतिरिक्त उसके अंदर समत्वकी भावना भी हो, जिससे वह जीवनके सुख-दुःखको सहन कर सके। जिनके अंदर ये सब गुण विद्यमान हैं, केवल वे ही विवाहके लिये उचित पात्र हैं। ऐसे दम्पति जो सृष्टिका रचनात्मक कार्य करेंगे, उससे संसारमें शान्ति स्थापित होगी और लोगोंका जीवन सरल बनेगा।

इस लेखमें मुझे एक और बातकी ओर ध्यान दिलाना उचित मालूम पड़ता है कि ऐसे दम्पति भी उतनी ही संतान उत्पन्न करें, जिनका वे भलीभाँति पालन-पोषण कर सकें। भारतवर्षमें परिवारोंकी दशा आजकल बहुत ही शोचनीय है। अधिकतर तो ऐसे ही दम्पति हैं, जिन्होंने विवाहकी जिम्मेदारीको न समझकर इस भारको अपने ऊपर उठा लिया है। जिस कामके लिये वे सब प्रकारसे अयोग्य थे, उसे अपने ऊपर लेकर उन्होंने अपना जीवन तथा समाजका जीवन बहुत ही कष्टमय बना दिया है। उनका सारा जीवन चिन्तामें और रोते-झीखते बीतता है। यह भी देखा जाता है कि जो लोग गरीब हैं, उनके यहाँ संतान अधिक होती है। गरीबके यहाँ अधिक संतानका होना दुःख-पर-दुःखका आना है। गरीबोंके यहाँ बच्चोंकी दुर्दशा देखकर जी भर आता है। कीड़े-मकोड़ोंकी भाँति वे घरमें इधर-उधर घूमा करते या पड़े रहते हैं। उनके तनपर न ठीक वस्त्र दिखलायी पड़ता है और न उनके शरीरमें भोजन ही पहुँचता है, जिससे उनके शरीरकी उचित उन्नति होकर उनके मन और बुद्धि विकसित हों। सुसम्पन्न परिवार या अन्य उन्नतिशील प्रदेशोंमें पशुओंके रखनेका जितना अच्छा प्रबन्ध है, उतना भी इन दयनीय बालकोंका इन गरीबोंके घर नहीं है। ऋतुके अनुसार पशुओंको भोजन दिया जाता है और उनके रहनेकी जगहोंका आयोजन किया जाता है, किंतु इन बालकोंके प्रति ऐसी उदार भावना कोसों दूर है। जाड़ा, गर्मी, बरसात—सभी वे एक-ही-दो वस्त्रोंमें बिता देते हैं। कितने तो ऐसे बालक भी दिखलायी पड़ते हैं, जिन्हें तन ढाँकनेके लिये सदा वस्त्र भी पर्याप्त नहीं मिलता। जैसी दशा उनके वस्त्रोंकी है, वैसी ही दशा उनके भोजन और मकानकी भी है। यदि थोड़ा-सा रूखा-सूखा भोजन मिल गया तो यही सब कुछ है। एक खाट और एक ओढ़नेमें दो-तीन बालक रात बिताते हैं। सोनेमें प्रकृति उनकी सहायता करती है कि लेटते ही उन्हें नींद आ जाती है और उनके रातके सात-आठ घंटे प्रगाढ़ निद्रामें बीत जाते हैं। इन बालकोंको देखकर किसे रोना न आयेगा।

प्राचीन कालमें विवाहका उद्देश्य परम पावन था, शुद्ध जीवन व्यतीत करनेका वह एक उचित माध्यम था, किंतु इस समय इसके ठीक विपरीत हो रहा है। विवाह करनेका अभिप्राय लोगोंकी दृष्टिमें काम-लिप्साको तृप्त करनेका एक साधनमात्र है। इस बातपर विचार करनेके लिये तो एक बिल्कुल ही स्वतन्त्र लेखकी आवश्यकता है। इस लेखमें तो केवल ब्रह्मचर्य-व्रतके कुछ पहलुओंपर ही विचार किया गया है।

विवाहित स्त्री-पुरुषोंके लिये या जो लोग इस बन्धनमें अपनेको फँसाने जा रहे हैं, उन्हें अपने कष्टोंपर ध्यान देते हुए सजग होकर जीवन व्यतीत करना चाहिये। जिन्होंने बिना समझे अपने सिरपर इस

जिम्मेदारीको ले लिया है, उन्हें अपना ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहिये कि वे कम-से-कम संतान पैदा कर, जिसकी वे उचित देख-भाल कर सकें। ऐसा करनेसे उनके कष्टमें कमी हो सकती है। नहीं तो जीवन कहींका न रह जायगा और कष्ट दिनों-दिन बढ़ता ही जायगा। वैवाहिक जीवन विषय-भोगका जीवन नहीं है। प्राचीन कालमें संतान उत्पन्न करनेके एक निश्चित अभिप्रायसे ही वीर्यका क्षय किया जाता था, अन्यथा नहीं। उस समयके दम्पतिमें भोग-वासनाकी लिप्सा नहींके बराबर होती थी। संतानोत्पत्तिके अवसरके अतिरिक्त स्त्री-पुरुषका आचरण शुद्ध होता था। एक-दूसरेको कामभावकी दृष्टिसे नहीं देखते थे, प्रत्युत एक मित्र या आत्मीयकी दृष्टिसे। इन सब उच्च आदर्शोंके प्रति कहाँतक किसे सफलता मिल सकती है, बिल्कुल ही व्यक्तिगत प्रश्न है। इस सम्बन्धमें कुछ कहा नहीं जा सकता, किंतु जो लोग संसारके दुःख अथवा अपने दुःखको देखकर सजग हो जायँगे उन्हें लाभ ही होगा। दुःखमें बिना सजग हुए उससे छुटकारा कभी नहीं मिलता। जो लोग दुःखसे सजग नहीं होते उनका कहीं ठिकाना नहीं लगता।

एक बात और लिखकर यह लेख समाप्त किया जाता है। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्ण ब्रह्मचारी वही हो सकता है, जो मन और शरीर दोनोंसे पवित्र हो; किंतु यह एक महान् व्रत है, इसमें जो सफल हो सके, वही पुरुष है। जो लोग मन और शरीर दोनोंसे इस निर्मल व्रतको धारण करनेमें असमर्थ हैं, उन्हें कम-से-कम अपने कष्टोंका ध्यान करते हुए इतना तो अवश्य करना चाहिये कि शरीरद्वारा ब्रह्मचर्य-व्रतको धारण करें और सदा इस बातका प्रयत्न करते रहें कि उनका मन भी निर्मल होता जाय। गृहस्थ-जीवनके उत्तरदायित्वको ग्रहण करनेमें यदि कोई मनुष्य असमर्थ है तो उसे चाहिये कि कामिनीके प्रलोभनमें पड़कर अपने जीवनको कष्टमय, नीरस और अशान्त न बनावे। इस बातको सम्मुख रखकर ही यदि उसके अंदर विचारकी गम्भीरता और दृढ़ता होगी तो बहुत सम्भव है कि एक दिन वह एक सच्चा ब्रह्मचारी भी बन सके।

---

## ग्रामवधुओंका सौभाग्य

सीस जटा, उर-बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी-सी भौंहैं।  
तून सरासन-बान धरें तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं॥  
सादर बारहिं बार सुभायँ चितै तुम्ह त्यों हमरो मनु मोहैं।  
पूँछति ग्रामबधू सिय सों, कहौ साँवरे-से, सखि! रावरे को हैं॥  
सुनि सुंदर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकीं जानी भली।  
तिरछे करि नैन, दै सैन, तिन्हैं समुझाइ कछू, मुसुकाइ चली॥  
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचनलाहु अलीं।  
अनुराग-तडाग में भानु-उदैं बिगसीं मनो मंजुल कंजकलीं॥

(कवितावली २। २१-२२)

# साधकोंके प्रति—

( श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज )

## [ नाशवान्‌की मुख्यतासे हानि ]

हमलोगोंकी मुख्य भूल क्या होती है ? यह कि जो जड़ है, नाशवान् है, परिवर्तनशील है, उसे तो हम सच्चा मान लेते हैं, मुख्य मान लेते हैं और जो चेतन है, अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है, उसे गौण मान लेते हैं। हम शरीरकी मुख्यताको लेकर सब काम करते हैं। हम तो यहीं ( संसारमें ) रहनेवाले हैं, यहाँके ही आदमी हैं—इस प्रकार हमने अपनेको शरीर-संसारके साथ मान लिया है। शरीरका आदर हमारा आदर हो गया, शरीरकी निन्दा हमारी निन्दा हो गयी—इस प्रकार जड़ताकी मुख्यताको लेकर चलने लगे और चेतनकी मुख्यताको बिल्कुल भुला दिया है, मानो है ही नहीं। मुख्यमें अमुख्यकी भावना और अमुख्यमें मुख्यकी भावना; जो वास्तविक है, उसका तिरस्कार और जो अवास्तविक है, उसका आदर—यह मूल भूल हो गयी। अब कई भूलें होंगी ! एक भूलमें अनन्त भूलें होती हैं।

धुर बिगड़े सुधरे नहीं, कोटिक करो उपाय।
ब्रह्माण्ड लौं बढ़ गये, वामन नाम न जाय ॥

भगवान्‌के अवतारोंमें सबसे लम्बा 'त्रिविक्रम' अवतार हुआ, जिसके तीन कदम भी त्रिलोकीमें पूरे नहीं हुए ! परंतु उसका नाम तो 'वामन-अवतार' ही हुआ। इतना बड़ा अवतार होनेपर भी नाम तो छोटा ही रहा। कारण कि आरम्भमें, मूलमें ही बात बिगड़ गयी, तो अब कितना ही प्रयत्न करो, बात सुधरेगी नहीं। ऐसे ही मूलमें जड़ताको मुख्यता दे दी, तो अब भूलोंका अन्त नहीं आयेगा, तरह-तरहकी भूलें होंगी। यदि हम इस भूलको सुधारना चाहें तो हमारे लिये एक बहुत आवश्यक बात यह है कि हम जड़, और क्षणभङ्गुर शरीरकी मुख्यता न रखें।

यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि मैं नहीं बदला हूँ, शरीर बदला है। फिर भी बदलनेवालेको ही मुख्यता देते हैं कि हम छोटे हो गये, हम बड़े हो गये, हम स्वस्थ हो गये, हम बीमार हो गये, हमारा आदर हो गया, हमारा निरादर हो गया ! कहाँ तुम्हारा आदर हो गया ? कहाँ तुम्हारा निरादर हो गया ? हमारी बात नहीं रही, तुम्हारी बात रह गयी तो बाधा क्या लगी ? इस न रहनेवाली वस्तुकी भी कोई सत्ता है क्या ? इसकी भी कोई महत्ता है क्या ? पर मूलमें जड़ताकी, नाशवान्‌की मुख्यता मान ली। जो वास्तविकता है, उसकी परवाह ही नहीं ! अब बातें सुनाओ, पढ़ाओ, सब कुछ करो, पर भूलको छोड़ेंगे नहीं ! बस हमारे नामकी महिमा होनी चाहिये, हमारे रूपका आदर होना चाहिये—यह बात भीतर बैठी है। अब कितना ही सुनो-सुनाओ, सब रद्दी हो जायगा। अब इस बातको जान लें कि वास्तवमें नाम हमारा नहीं है, हमारा रूप शरीर नहीं है। जब पेटमें थे, तब नाम नहीं था। जब जन्मे, तब भी नाम नहीं था। दस दिनके बाद नाम रख दिया गया। वह नाम भी यदि बादमें बदल दिया गया तो उसे पकड़ लिया। नाम और रूप—दोनों बदलनेवाले हैं, मिटनेवाले हैं। जो मिटनेवाला है, उसे तो पकड़ लिया और जो रहनेवाला है, उसकी परवाह ही नहीं ! आप-से-आप भी विचार नहीं करते और कहनेपर भी ध्यान नहीं देते, कितनी बड़ी भूलकी बात है ! कम-से-कम उसपर ध्यान

तो देना चाहिये कि यह बात ऐसी है; अब तो हम चेत गये, होशमें आ गये; अब ऐसी भूल नहीं करेंगे। यदि अभी ध्यान नहीं दिया तो जितना दुःख भोगना पड़ेगा, इसीसे ही भोगना पड़ेगा। जन्म-मरण भी इसीसे होगा। नरक भी इसीसे होगा। बिल्कुल उलटी बात पकड़ ली, तो अब उसका परिणाम सुलटा कैसे होगा? उलटा ही परिणाम होगा। अभीसे सावधान होकर अपना काम ठीक तरहसे कर लेना चाहिये, नहीं तो बड़ी दुर्दशा होगी भाई!

एक नियम है कि जिसे मान लेते हैं, उसमें जिज्ञासा नहीं होती, शङ्का नहीं होती। वहाँ यह बात उत्पन्न ही नहीं होती कि यह क्या वस्तु है? अतः मानना ही हो तो भगवान्‌को मान लो। माननेके बाद फिर शङ्का मत करो, संदेह मत करो। जैसे, ब्याह हो गया, तो हो गया, बस। अब उसमें कभी भी शङ्का नहीं होती, संदेह नहीं होता, जिज्ञासा नहीं होती। जैसे बोध हो जानेपर अज्ञान नहीं होता, ऐसे ही मान लेनेपर मानना उलटा नहीं होता। मानना और जानना—दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं। मानना परमात्माको है और जानना स्वरूप तथा संसारको है।

ये तीन बातें बड़े ध्यान देनेकी हैं कि हमारे पास जितनी वस्तुएँ हैं, वे पहले हमारी नहीं थीं, पीछे हमारी नहीं रहेंगी और इस समय भी हमसे प्रतिक्षण अलग हो रही हैं। यहाँ आकर बैठे, उस समय जितनी आयु थी, उतनी अब नहीं रही, मौत उतना निकट आ गयी। शरीरका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। भगवान्‌ने कहा है—**'अन्तवन्त इमे देहाः'** ( गीता २। १८ ) अर्थात् ये शरीर अन्तवाले हैं। जैसे धनवान् होता है, ऐसे ही ये शरीर अन्तवान् हैं, नाशवान् हैं; परंतु जो सब जगह परिपूर्ण अविनाशी है, उसे मुख्यता न देकर विनाशीको मुख्यता दे रहे हैं—यहाँ भूल होती है। इसका सुधार कर लिया जाय तो सब सुधर जायगा। मुख्यता स्वयंकी रहनी चाहिये। मुक्ति भी स्वयंकी होती है, शरीरकी नहीं। शरीरको अपना माननेसे ही बन्धन हुआ है। उलटा मान लिया—यही बन्धन है। अतः चाहे सुलटा मान लो, चाहे ठीक तरहसे जान लो कि बन्धन क्या है, मुक्ति क्या है। फिर काम ठीक हो जायगा। उलटा मान लेते हो और जानते हो नहीं—यही भूल है।

एक मिश्रीके पहाड़पर रहनेवाली कीड़ी ( चींटी ) थी और एक नमकके पहाड़पर रहनेवाली। मिश्रीके पहाड़वाली कीड़ीने दूसरी कीड़ीसे कहा कि 'तू यहाँ क्या करती है? मेरे साथ चल। मिठास तो हमारे वहाँ है!' नमकके पहाड़वाली कीड़ी बोली कि 'क्या वहाँ इससे भी बढ़िया मिठास है?' दूसरी कीड़ी बोली कि 'कैसी बात करती है! बढ़िया-घटियाकी बात तो तब हो, जब वहाँ मिठास हो। वहाँ मिठास है ही नहीं, वहाँ तो बिल्कुल इससे विरुद्ध बात है।' फिर वह नमकके पहाड़वाली कीड़ीको अपने यहाँ ले गयी और बोली कि 'देख, यहाँ कितना मिठास है।' नमकके पहाड़वाली कीड़ी बोली कि 'मुझे तो कोई अन्तर नहीं दीखता! तुम कहती हो तो मैं 'हाँ-में-हाँ' मिला दूँ, पर मुझे तो वैसा ही स्वाद आ रहा है।' मिश्रीके पहाड़वाली कीड़ीको आश्चर्य हुआ कि बात क्या है! उसने ध्यानसे देखा तो पता चला कि नमकके पहाड़वाली कीड़ी अपने मुखमें नमककी डलीको पकड़े हुए है, अब दूसरा स्वाद आये ही कैसे? उससे कहा कि 'नमककी डलीको मुखसे निकाल दे, फिर देख इसका स्वाद।' उसने नमककी डली मुखसे निकालकर मिश्रीको चखा तो बस, उसीके साथ चिपक गयी। मिश्रीके पहाड़वाली कीड़ीने पूछा कि 'बता, कैसा स्वाद है?' तो वह बोली—'हल्ला मत कर, चुप हो जा।' ऐसे ही आप सब बातें सुनते हैं, पर नमककी डलीको पकड़े रहते हैं

कि शरीर सच्चा है, शरीरका मान-अपमान सच्चा है, शरीरका आराम सच्चा है, शरीरका सुख अच्छा है, आदि। इस बातको ऐसे जोरसे पकड़े रहते हैं कि कहीं यह ढीली न पड़ जाय, कहीं यह मान्यता शिथिल न पड़ जाय! ऐसी सावधानी रखते हुए सत्सङ्ग करते हैं। वास्तवमें यह कुसङ्ग ( असत्‌का सङ्ग ) हो रहा है, सत्सङ्ग नहीं हो रहा है।

मान्यता होनेपर फिर शङ्का नहीं रहती, जिज्ञासा नहीं रहती। मेरा अमुक नाम है—ऐसा माननेपर फिर यह नहीं होता कि मेरा अमुक नाम कैसे है? कबसे है? क्यों पड़ा है? विवाह होनेपर आप मान लेते हैं कि वह मेरी पत्नी है और वह मान लेती है कि ये मेरे पति हैं। पति क्यों हैं? कैसे हैं? कबसे हैं? कितने दिन रहनेवाले हैं?—ऐसा कोई विचार पैदा ही नहीं होता। इसी तरह 'मैं शरीर हूँ' यह मान्यता दृढ़ कर ली, तो अब मान, बड़ाई, आदर, निरादर आदि जो कुछ है, वह हमारा कैसे हो रहा है—यह शङ्का ही नहीं होती। जब बनावटी बातको माननेसे यह दशा होती है, तो फिर 'भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्‌के हैं'—इस वास्तविक बातको दृढ़तासे मान लें, निहाल हो जायँ! यदि अब भी सावधानी हो जाय तो बड़ी अच्छी बात है, नहीं तो यह सावधानी कब होगी?

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु ही क्रियासाध्य होती है और उसीकी प्राप्तिमें समय लगता है। तत्त्वप्राप्तिमें समय नहीं लगता; क्योंकि तत्त्व क्रियासाध्य नहीं है। वह तो स्वतःसिद्ध है। सीधी बात है कि शरीर बार-बार जन्मता-मरता है और स्वयं वही-का-वही रहता है—'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते' ( गीता ८। १९ )। 'स एवायम्' स्वयं है और 'भूत्वा भूत्वा प्रलीयते' शरीर है। जो रहता है, उसे तो मानते नहीं और जो जाता रहता है, उसे मानते हैं। अतः इसमें थोड़ा जोर लगायें कि ऐसा हम नहीं मानेंगे। अब निरादर हो गया तो क्या हो गया? अपमान हो गया तो क्या हो गया? जैसे पत्थरका निरादर हो गया तो क्या? अपमान हो गया तो क्या? सही बातको सही मान लें, बस। सही बात समझमें नहीं आये तो शास्त्र और संत-महात्माकी बात मान लें कि भगवान् हैं और वे हमारे हैं। उनकी बात माननेसे भगवत्प्राप्तिकी जिम्मेवारी उन्हींपर आयेगी, परंतु यदि उनकी बात नहीं मानेंगे, उल्टी बात मानेंगे, तो इसकी जिम्मेवारी आपपर आयेगी अर्थात् इसका दण्ड आपको भोगना पड़ेगा।

आप सिद्ध नहीं कर सकते कि शरीर मैं हूँ। बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी यह बात सिद्ध नहीं कर सकते कि शरीर मैं ही हूँ। उल्टी बात कैसे सिद्ध होगी? परंतु आपने उल्टी बातको पकड़ रखा है! नाम, रूप, जाति, वर्ण, आश्रम, देश आदिको पकड़कर बैठे हैं। उसे छोड़ेंगे नहीं, भले ही कोई कुछ कहे। कारण कि उस बातको मान लिया है और मान लेनेके बाद जिज्ञासा होती ही नहीं। परमात्माको न मानकर उसपर शङ्का करते हैं। वास्तवमें यह माननेकी वस्तु है, शङ्का करनेकी वस्तु नहीं है। शङ्का करनी हो तो संसारपर करें अथवा स्वयं अपनेपर करें। ये दो ही जिज्ञासाके विषय हैं। परमात्माको न मानें तो फिर बिल्कुल मत मानें और मानें तो फिर बिल्कुल मानें; परंतु उल्टी बातको न मानें। जो प्रत्यक्षमें नाशवान् है, टिकनेवाली वस्तु नहीं है; जो पहले नहीं थी, पीछे नहीं रहेगी, वह बीचमें कैसे हो गयी—इस बातको ठीक समझ लें तो, फिर सब ठीक हो जायगा।

*भागवतीय-प्रवचन–१३*

# भीष्मपितामहका द्रौपदीको आशीर्वाद

( संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज )

चार प्रकारके मदसे मनुष्य भूला-सा हो जाता है—( १ ) विद्यामद, ( २ ) जवानीका मद, ( ३ ) द्रव्यमद और ( ४ ) अधिकारमद । इन चार प्रकारके मदोंके कारण जीव भगवान्‌को भूल जाता है ।

अपने रोते हुए बालकको ताली बजाकर शान्त रखनेका प्रयत्न करता हुआ प्रवक्ता उस समय यह भूल जाता है कि वह एक बड़ा विद्वान् प्रवक्ता है; किंतु उसी प्रवक्ताको प्रभु-कीर्तनके समय ताली बजानेमें लज्जा आती है । पढ़े-लिखे लोगोंको भजन-कीर्तनमें लज्जा आये, इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा !

भगवान्‌ने कहा है—'इन चार प्रकारके मदोंसे जीव उन्मत्त बनता है और मेरा अपमान करता है ।' ऐसे मदवालोंकी जीभको कीर्तनके समय पाप पकड़े रखता है । पाप उससे कहता है कि तू बोलेगा तो मुझे बाहर निकलना पड़ेगा ।

महाभारतमें कहा है कि हर प्रकारके रोग मदके कारण ही होते हैं । अतः दीन होकर प्रार्थना करो । तुम्हारे जन्मके बहुत-से प्रयोजन बताये जाते हैं, किंतु मुझे लगता है कि दुष्टोंका विनाश करना ही प्रधान कार्य नहीं है, किंतु अपने भक्तोंको प्रेमका दान करनेके लिये आप आये हैं ।

कुन्ती बनकर स्तुति करो ।

मुझसे वसुदेवजीने कहा था कि कंसके त्रासके कारण मैं गोकुल नहीं जा सकता । तुम गोकुलमें जाकर कन्हैयाका दर्शन करना । जब आप गोकुलमें बाललीला कर रहे थे, उस समय मैं आपके दर्शनके लिये आयी थी । आपका बालस्वरूप भुलाये नहीं भूलता । उस समय यशोदाने आपको बाँधा था । उसकी झाँकी मैं आजतक नहीं भूली ।

काल भी जिससे काँपता है, वे कालके काल श्रीकृष्ण आज थर-थर काँप रहे हैं ।

मर्यादाभक्ति पुष्टिभक्तिकी इस प्रकार प्रशंसा करती है । कुन्ती यशोदाकी प्रशंसा कर रही हैं । प्रेमका बन्धन भगवान् भी नहीं भूल सकते ।

सगुण ब्रह्मके साक्षात्कार करनेके बाद संसारमें आसक्ति रह जाती है । जो सगुणस्वरूप और निर्गुण-स्वरूप दोनोंका आराधन करे, उसीकी भक्ति सिद्ध होती है । **'स्नेहपाशमिमं छिन्धि ।'** स्वजनोंके साथ जुड़ी हुई स्नेहकी दृढ़ रस्सीको आप तोड़ दें ।

आप ऐसी दया करें कि मुझे अनन्य-भक्ति प्राप्त हो ।

स्तुतिके आरम्भ और समाप्ति दोनोंमें नमस्कार है । सांख्यशास्त्रके पैंतीस तत्त्वोंका प्रतिपादन पचीस श्लोकोंकी स्तुतिमें किया गया है ।

भगवान् सब कुछ करते हैं, किंतु वैष्णवको अप्रसन्न नहीं करते ।

कुन्तीका भाव जानकर भगवान् वापस लौटे । कुन्तीके महलमें पधारे । अतिशय आनन्द हुआ । अर्जुन वहाँ आये । वे अपनी मातासे कहते हैं कि 'भगवान् मेरे सखा हैं, अतः मेरे लिये ही वे वापस लौटे हैं ।'

कुन्ती कहती हैं—'रास्ता रोककर मैंने विनती की, इसलिये वे वापस आये हैं ।' द्रौपदी कहती है कि 'कृष्णकी अँगुली कट गयी थी तो मैंने अपनी साड़ी चीरकर पट्टी बाँधी थी, इसलिये वे वापस आये हैं ।'

सुभद्रा कहती हैं कि 'मैं तुम्हारी भाँति मुँहबोली नहीं, किंतु सगी बहन हूँ, अतः वे वापस आये हैं ।

जब मुझसे मिलने आये थे उस समय मैं कुछ बोल न सकी थी, इसलिये वे वापस आये हैं।'

परमात्मासे प्रेम करोगे तो वे तुम्हारे होंगे।

सबका प्यारा किंतु किसीका भी न होनेवाला वह सबसे न्यारा है। वे तो सबसे ऊँची प्रेम सगाईके सिद्धान्तको मानते हैं।

भीष्माचार्यका प्रेम अति दिव्य था। श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं कोई सगाई-सम्बन्ध नहीं मानता। मैं तो प्रेम-सगाईको ही मानता हूँ। मैं तो अपने भीष्मके लिये वापस आया हूँ। मेरा भीष्म मुझे याद कर रहा है, पुकार रहा है।'

भीष्मपितामह उस समय बाणशय्यापर सोये हुए हैं। उनका मरण सुधारनेके लिये भगवान् वापस आये हैं।

महात्माओंकी मृत्यु मङ्गलमय होती है। संतोंका जन्म अपनी तरह सामान्य ही होता है, अतः संतोंकी जन्मतिथिपर उत्सव नहीं मनाया जाता; किंतु संतोंकी मृत्यु मङ्गलमय होती है, पुण्यमय होती है, अतः उनकी पुण्यतिथि मृत्युतिथि मनायी जाती है।

भीष्मपितामहकी मृत्यु किस प्रकार होगी, उसे देखनेके लिये बड़े-बड़े संत और ऋषि-मुनि वहाँ पधारे हैं।

प्रभुने धर्मराजको उपदेश दिया। उन्हें सान्त्वना मिली। अतः उन्हें भीष्मपितामहके पास जानेके लिये भगवान् कहते हैं।

बाणशय्यापर जहाँ भीष्म सोये हैं, उस स्थानपर सब आये। भीष्म सोचते हैं कि उत्तरावस्थामें उत्तरायणमें मुझे मरना है। भीष्मपितामहने कालसे कहा कि 'मैं तेरा नौकर नहीं हूँ। मैं तो अपने श्रीकृष्णका सेवक हूँ।' भीष्म द्वारकानाथका ध्यान करते हैं। मुझे भगवान्ने वचन दिया है कि अन्तिम समयमें मैं अवश्य आऊँगा। मैं उनके दर्शन करता हुआ प्राणत्याग करूँ, वे तो ऐसा सोचते हैं, उसी समय धर्मराज वहाँ आते हैं।

धर्मराजसे भीष्म कहते हैं—'श्रीकृष्ण तो साक्षात् परमात्मा हैं। वे तेरा निमित्त करके मेरे लिये आये हैं। मेरी मृत्यु सुधारने आये हैं।'

भगवान्को भीष्मने वचनबद्ध किया था। कौरव-पाण्डवयुद्धके समय दुर्योधन भीष्मपितामहसे कहते हैं—'दादाजी! आठ दिन तो हो गये फिर भी आप किसी पाण्डवको मार नहीं सके। आप ठीक तरहसे लड़ते ही नहीं हैं।' भीष्म आवेशमें आ गये और आवेशावस्थामें ही उन्होंने दुर्योधनसे कहा कि 'रातको बारह बजे जब मैं ध्यानमें बैठूँ, तब अपनी रानीको आशीर्वाद लेनेके लिये भेजना। मैं अखण्ड सौभाग्यका वरदान दूँगा।'

श्रीकृष्णको यह जानकर चिन्ता हुई। वे दुर्योधनकी पत्नी भानुमतीसे मिले और उससे कहा कि 'दादाजी घरके ही तो हैं। उनसे मिलनेके लिये आज जानेकी जल्दी क्या है। कल जाना उनके दर्शनके लिये। भानुमती मान गयी और न गयी।'

महात्मा कहते हैं कि उसी समय श्रीकृष्णने द्रौपदीको जगाया। एक स्वरूपसे द्रौपदीको लेकर वे भीष्मपितामहके पास गये और दूसरे स्वरूपसे वे द्रौपदी बनकर अर्जुनकी शय्यापर सो रहे। श्रीकृष्ण रूपरहित होते हुए भी अनेक रूपोंवाले हैं।

भीष्मपितामह ध्यान कर रहे हैं। आज द्वारकाधीशका स्वरूप दीखता नहीं है, किंतु काली कमली, हाथमें दीपक आदि स्वरूपवाले भगवान् दीखते हैं। आज द्रौपदीके रक्षक बनकर भगवान् आये हैं। द्वारपालने उन्हें रोका। कोई भी पुरुष अंदर जा न सके ऐसी आज्ञा थी। द्रौपदीने अंदर जाकर प्रणाम किया। दुर्योधनकी पत्नी भानुमती ही आयी है, ऐसा मानकर भीष्मपितामहने आशीर्वाद दिया—**'अखण्डसौभाग्यवती भव'।**

द्रौपदीने पूछा—'दादाजी ! आपका आशीर्वाद सच होगा ?' भीष्मने पूछा कि 'देवी ! तू कौन है ?' द्रौपदीने उत्तर दिया—'मैं पाण्डवपत्नी द्रौपदी हूँ ।'

भीष्मपितामहने कहा कि 'मैंने तुझे जो आशीर्वाद दिया है, वह तो सच ही होगा । पाण्डवोंको मारनेकी प्रतिज्ञा मैंने आवेशवश की है, सच्चे हृदयसे नहीं । तुझे सच्चे हृदयसे आशीर्वाद दिया है, वह सच ही होगा; किंतु मुझे तू यह तो बता कि तू अकेली यहाँ कैसे आयी ? तुझे द्वारकानाथके सिवा और कौन लाया होगा ?'

भीष्मपितामह दौड़ते हुए बाहर आये । उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा—'आज तो मैं आपका ध्यान करता हूँ, किंतु अन्तकालमें आपका स्मरण न जाने रहेगा या नहीं । प्राणप्रयाणके समय वात-पित्त आदिके प्रकोपसे गला रुँध जायगा तो आपका स्मरण कैसे होगा ? सो वैसे समयमें मेरी लाज रखनेको पधारियेगा । अन्तकालमें भयंकर स्थिति होगी । उस समय मुझे लेनेके लिये आइयेगा ।' उस समय श्रीकृष्णने भीष्मपितामहको वचन दिया कि 'मैं अवश्य आऊँगा ।' उन्हें दिये गये वचनका पालन करने द्वारकानाथ पधारे थे ।

---

# अपनी खोज तथा अमृतत्वकी प्राप्तिका उपाय

( लेखक—श्रीविश्वबन्धुजी 'सत्यार्थी' )

अहो ! मैं संसारके त्रितापसे झुलसा जा रहा हूँ । आधिभौतिक ताप मेरे शरीरको जला रहा है, आधिदैविकका भय मेरुपर्वत-जैसा मेरे ऊपर लदा है । आध्यात्मिक तापसे मेरा मन बेचैन है । विषयोंकी तृष्णा अलग खींचती है, उनके वियोगका दुःख असह्य हो रहा है । क्या करूँ, कुछ वश नहीं चलता । किसकी शरणमें जाऊँ ? कौन मेरा रक्षक है ? चलूँ एकान्तमें बैठकर विचार तो करूँ । अरे ! मैं क्या शरीर हूँ ? मैं तो शरीरको देखनेवाला शरीरसे भिन्न ही हूँ । मैं क्या इन्द्रियगण हूँ ? अहो ! मैं तो प्रत्येक इन्द्रियका ज्ञाता तथा स्वामी हूँ । मैं क्या मन हूँ ? नहीं-नहीं, मैं तो मनको जहाँ चाहे वहाँ भेज सकता हूँ, मैं तो मनका प्रेरक हूँ । अरे ! मैं क्या बुद्धि हूँ ? बुद्धि तो मुझे प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही है, अच्छे-बुरेकी पहचान इसीके द्वारा होती है । तो फिर मैं क्या हूँ ? यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि पञ्चभूतोंके सत्त्व-रज-तम अंशको लेकर बने हुए हैं । कहीं इन्हीं पाँचों तत्त्वोंके मिश्रणसे तो मैं एक नयी वस्तु पैदा नहीं हो गया हूँ ?

नहीं-नहीं, कदापि नहीं, मैं तो पञ्चभूतोंका अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीका ज्ञाता हूँ । ये पाँचों तो जड है, इनमें ज्ञान है ही नहीं, जब कारण ही जड है तो कार्य कहाँसे ज्ञाता, चैतन्य हो जायगा । निश्चय ही मैं तो इन सबसे पृथक् हूँ । अहो ! मैं तो पञ्चभूतोंके परमाणुओंका भी द्रष्टा हूँ, ज्ञाता हूँ, समझनेवाला हूँ, इसलिये मैं परमाणुओंसे भी सूक्ष्मतम हूँ । ये पञ्चभूत परिवर्तनशील हैं । यह मेरा शरीर भी पञ्चभूतोंसे उत्पन्न होनेके कारण परिवर्तनशील है, परंतु मैं परमाणुओंसे भी सूक्ष्म होनेके कारण अपरिवर्तनशील हूँ । कहते हैं, परमाणु नित्य हैं, इसमें नैयायिकादि शास्त्रज्ञोंका भी विरोध नहीं है । पाश्चात्त्य विज्ञानवेत्ता कान्ट आदि भी परमाणुसे आगे परिवर्तन स्वीकार नहीं करते, किंतु मैं तो परमाणुओंसे भी सूक्ष्म हूँ, अतः मैं अपरिवर्तनशील और नित्य हूँ । मेरा कभी अभाव नहीं होता । मुझे न शस्त्र छेद सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है और न हवा उड़ा

सकती है । मैं तो नित्य, अविनाशी हूँ । गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
( २ । २३–२४ )

'इस आत्माको न शस्त्र छेद सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है और न हवा सुखा सकती है । यह आत्मा किसीसे भी छेदा नहीं जा सकता, न जलाया जा सकता है, न गलाया जा सकता है और न सुखाया जा सकता है । यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, स्थिरस्वभाव, अचल और सदासे रहनेवाला है ।'

अहाहा ! मैं कहाँ भूला हुआ भटक रहा था । मैं तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिको ही अपना आपा मान रहा था । शरीरके दुःखसे दुःखी हो रहा था । वास्तवमें यह मेरी भूल ही थी । मैं तो शरीरसे भिन्न, नित्य और अपरिवर्तनशील हूँ ।

अब मेरा आधिभौतिक और आधिदैविक ताप तो कुछ शान्त हो गया, परंतु मेरे अंदर यह जिज्ञासा उठ खड़ी हुई है कि यह शरीर किसने बनाया है । यह तो बड़ा ही अद्भुत है । इसमें आँखें कैसी चमकीली बनायी गयी हैं, जो बाहरकी सभी वस्तुओंका अवलोकन करती हैं । शरीरके भीतर तो न जाने कैसा अद्भुत यन्त्र लगाया गया है कि बिना अग्नि जलाये ही भोजन पच जाता है और उसका रस बनकर रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदिके रूपमें परिणत हो जाता है तथा अनुपयोगी भाग शरीरसे बाहर निकल जाता है । इसका बनानेवाला कौन है ? मेरे माता-पिताने भी इसे नहीं बनाया । मैं स्वयं तो बना ही कैसे सकता हूँ । मुझे तो कुछ पता ही नहीं । और यह संसार किसने रचा है ? यह तो बड़ा ही सुन्दर है, इसमें सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रगण कैसी विलक्षण वस्तुएँ हैं, जो नित्यप्रति ठीक समयपर उदय होते हैं । ये सदा ही किसीके नियन्त्रणमें बँधे हुए हैं तथा समयसे एक क्षण भी इधर-उधर नहीं हो सकते । कैसा सुहावना पवन बह रहा है ! इसकी अद्भुतता तो अलौकिक ही है । जगह-जगह नदियाँ बह रही, हैं, पर्वतोंपर कलकल-ध्वनि करते सोते बह रहे हैं । धन्य है इस रचनाको ! ऐसी सुन्दर रचना किसने की है ?

परंतु इस प्रश्नका उत्तर भी विशेष कठिन नहीं है । रात-दिन इसका उत्तर किसी-न-किसीके मुखसे सुनायी देता रहता है कि 'संसारको जगत्पिता जगदीश्वर परमात्माने रचा है, जीवोंके शरीर भी उसीने बनाये हैं ।' ठीक है, युक्तिसे भी सिद्ध हो गया कि जिसने हमारे शरीर और इस संसारका निर्माण किया है, वह जगत्पिता परमात्मा जीवसे भिन्न ही है ।

किसी-किसीका कहना है कि संसार किसीने नहीं बनाया, यह स्वयं ही बन गया है । जैसे मिश्रीकी डली तोड़ी जाय तो त्रिकोणकी आकृतिके चिकने-चिकने दाने बिना बनाये ही बन जाते हैं, उसी प्रकार संसार भी स्वयं बन गया है; परंतु ऐसा कहना निर्मूल है, मिश्रीके दानोंका निर्माण तो मिश्री बनाते समय ही हो जाता है ।

निश्चय ही इस जगत्को जगत्पिता परमात्माने बनाया है । श्रुति भी यही प्रमाणित कर रही है—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥
( मुण्डक० २ । १ । २–३ )

'वह ब्रह्म निश्चय ही प्रकाशमान मूर्तिरहित पुरुष, बाहर-भीतर रहनेवाला, अजन्मा, प्राणरहित, मनोहीन, श्रेष्ठ और अक्षरसे भी परात्पर है। इस ब्रह्मसे ही प्राण उत्पन्न होता है और इसीसे मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और समस्त विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।' श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अस्राक्षीद् भगवान् विश्वं गुणमय्याऽऽत्ममायया।
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति॥
(३।७।४)

'श्रीभगवान्ने अपनी त्रिगुणात्मिका मायाके द्वारा संसारकी रचना की है, उस मायाके द्वारा ही वे इसकी स्थापना अर्थात् पालन करते हैं और उसीसे संहार भी करेंगे।' वेदान्तदर्शनका कथन है—

जन्माद्यस्य यतः॥ (१।१।२)

'सम्पूर्ण जगत्का जन्म, स्थिति, प्रलय जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारणरूप परमेश्वरसे होते हैं, वही ब्रह्म है।'

वेदमन्त्रमें भी आता है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥
(ऋग्वेद १०।१९१।३)

'परमेश्वरने पूर्वकल्पके समान ही सूर्य-चन्द्र, दिव्य-लोक, पृथ्वी और अन्तरिक्षादि लोकोंकी रचना की।'

इस प्रकार सृष्टिके रचयिताका तो पता लग गया, परंतु मेरे हृदयमें तो पहलेसे भी अधिक खलबली पैदा हो गयी। मेरी व्याकुलता पहलेसे भी हजारगुनी बढ़ गयी। जिस परमपिता जगदीश्वरने संसारको बनाया है, न जाने वह कैसा अलौकिक होगा। जब संसार ही इतना अद्भुत है कि इसकी सौन्दर्य-छटाका वर्णन नहीं हो सकता, तब फिर उस परमात्माकी अलौकिकताका क्या ठिकाना होगा।

हाय! मैं अबोध किसकी शरण जाऊँ, किस प्रकार अपने स्वामी परमपिताके दर्शन करूँ? संसारमें मेरा कौन है? इस प्रकारकी जिज्ञासा कोई नयी बात नहीं है, इसका होना तो वेदसे भी प्रमाणित है। अथर्ववेदमें वर्णन आया है—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।
(अथर्व० १०।७।१०)

'ऋचाएँ (ऋग्वेद) जिससे निकली हैं, यजुर्वेद जिससे उत्पन्न हुआ है, सामवेद जिसके रोमोंके सदृश है और अथर्ववेद जिसका मुख है, बताओ, वह ईश्वर कौन है?'

प्राणनाथ! जगत्पिता जगदीश्वर! मैं तुम्हारी ही शरण हूँ। प्रभो! आपके सिवा ऐसा कौन दयालु है, जो अंधे, बहरे, गूँगेको हृदयसे लगाये। मनुष्यकी तो सामर्थ्य ही क्या है, जो तुम्हारा भेद समझ सके। करुणासिन्धो! अपना पता तो आप ही दे सकते हैं। नाथ! यह कोई मेरे मनकी कल्पना नहीं है। स्वयं आपने अपने श्रीमुखसे श्रुतिके द्वारा कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥
(कठ० १।२।२३)

'यह परमात्मा कहने-सुननेसे प्राप्त होने योग्य नहीं है, न बुद्धिसे इसे प्राप्त किया जा सकता है, न बहुत-से शास्त्रोंके ज्ञानसे। जिसके ऊपर प्रभुकी परम कृपा होती है, उसीको यह प्राप्त होने योग्य है और उसीको ये जगत्पिता परमात्मा अपना स्वरूप दिखा देते हैं।'

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

अतः नाथ! मैं आपकी शरण हूँ। करुणासिन्धो! आपकी करुणाका स्रोत निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे प्रवाहित

हो रहा है । मुझ-जैसे मलिन-हृदय पुरुष उसका अनुभव नहीं कर सकते । जिनका हृदय आपका गुण-गान करते-करते निर्मल हो गया है, वे ही आपकी करुणाका अनुभव कर सकते हैं । जैसा कि श्रीवाल्मीकि मुनिने भगवान् श्रीरामसे कहा है—

**काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥**
**जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह के हृदयँ बसहु रघुराया॥**
**सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥**
**कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥**
**तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥**
**जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी॥**
**जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥**
**जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥**
**गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥**

प्रभो ! उपर्युक्त गुण मुझ-जैसे तुच्छ व्यक्तिमें कैसे मिल सकते हैं, ये तो आपकी कृपाके ऊपर ही निर्भर हैं । कहा भी है—

**यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥**

अब तो सब प्रकार आप ही रक्षक हैं । आपने श्रीमुखसे गीतामें कहा है—

**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**
(१८ । ६६)

'सारे धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर ।'

प्राणनाथ ! धन्य है, आपके इस अनुग्रहका क्या ठिकाना है । आपकी असीम कृपा है । प्रभो ! जो आपकी शरणमें आ गये, उन्हें तो आपने अपनेमें ही मिला लिया। उन्हें तो आपने समस्त तापोंसे मुक्त कर दिया । आप स्वयं अमृतस्वरूप हैं, आपको प्राप्त होकर वे भी अमृतस्वरूप बन गये ।

**सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥**

श्रुतियोंमें भी स्पष्ट वर्णन आया है—

**यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।**
**एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥**
(कठ० २ । १ । १५)

'जिस प्रकार शुद्ध जलमें डाला हुआ शुद्ध जल तद्रूप हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माको जाननेवालेका आत्मा भी परमात्मरूप ही हो जाता है ।'

अन्यत्र भी ऐसा ही लिखा है—

**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-**
**ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।**
**तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः**
**परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥**

'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ समुद्रमें पहुँचकर नाम-रूपको छोड़ समुद्ररूप ही हो जाती हैं, वैसे ही परमात्माके प्राप्त होनेपर भक्त भी अपने नाम-रूपकी सत्तासे छूटकर परमात्मस्वरूप हो जाता है ।'

सच है, बिना प्रभुकी शरणमें आये जीवका उद्धार नहीं हो सकता । जो प्राणी नित्य-सुख, जीवन्मुक्ति, प्रभु-प्राप्ति चाहते हैं, उन्हें सर्वस्वका त्याग कर प्रभुकी शरणमें चले जाना चाहिये । तभी उन्हें अमृतत्वकी प्राप्ति हो सकती है ।

प्रभुकी असीम करुणा और जीवकी उद्दण्डता दोनों ही एक-एकसे बढ़कर हैं । फिर भी प्रभुके सम्मुख होते ही इस जीवकी उद्दण्डताका पता भी नहीं लगता । जिस प्रकार प्रकाशके होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रभुकी दृष्टि पड़ते ही इसकी समस्त उद्दण्डता और अविद्या छिन्न-भिन्न हो जाती है ।

प्रभु अव्यभिचारिणी भक्तिके भूखे हैं, बिना उस भक्तिके वे रीझते ही नहीं—जैसा उन्होंने स्वयं कहा है—

**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।**
**विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥**
(गीता १३ । १०)

यही बड़ी कठिन बात है। मन निरन्तर प्रभुके भजन-ध्यानमें नहीं लगता। बहुत कुछ इच्छा होनेपर भी निरन्तर चिन्तन नहीं होता, अपितु यह कभी-कभी प्रभुको छोड़कर विषयोंका चिन्तन करने लगता है।

भगवान्‌के प्रिय सखा अर्जुनने भी ऐसा ही प्रश्न पूछा था। सम्भव है, उन्होंने इतर जीवोंके कल्याणके निमित्त ही वह प्रश्न पूछा हो, उन्हें स्वयं कुछ पूछनेकी आवश्यकता न रही हो; किंतु यह ऐसी गोपनीय बात है, जो श्रद्धासे ही स्वीकार की जा सकती है। प्रत्यक्षमें तो यह प्रश्न श्रीअर्जुनका ही है। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे पूछते हैं—

**अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।**
**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥**
(गीता ३। ३६)

'श्रीकृष्ण! इच्छा न होनेपर भी—यह जाननेपर भी कि विषय दुःखके घर और क्षणिक हैं, न जाने किसकी प्रेरणासे यह जीव पाप करनेपर उतारू हो जाता है, मानो इसे किसीने बलात्कारसे उधर लगा दिया हो।'

प्रश्न तो बड़ा ही सुन्दर है। यह स्थिति प्रत्येक जिज्ञासु भक्तके सम्मुख उपस्थित होती है। अवश्य यह प्रश्न अर्जुनका ही है, परंतु वे तो उपलक्षणमात्र ही हैं, उन्होंने तो हम-जैसे जीवोंके कल्याणके लिये ही ऐसा पूछा है। अब करुणासिन्धु श्रीभगवान् इसका कैसा सुन्दर उत्तर देते हैं—

**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**
**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥**
**धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।**
**यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥**
**आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।**
**कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥**
**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।**
**एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥**
**तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।**
**पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥**
**इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।**
**मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥**
**एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।**
**जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥**
(३। ३७–४३)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न काम—इच्छा, जो कि क्रोधका घर है, कभी तृप्त न होनेवाला और पापरूप है। इसे तुम अपना वैरी ही समझो। जिस प्रकार धुएँसे अग्नि, मैलसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार इस कामनासे ज्ञान ढका हुआ है। भैया! इसीसे ज्ञान ढका हुआ है, इसलिये यह काम ज्ञानियोंका नित्य वैरी है, इसकी तृप्ति अग्निकी तरह कभी नहीं होती। जिस प्रकार घी डालनेसे अग्नि प्रचण्ड हो जाती है, उसी प्रकार भोग भोगनेसे वासनाएँ और भी प्रबल हो जाती हैं। अब इस कामना अथवा वासनाके जीतनेका उपाय बतलाते हैं। जिस प्रकार शत्रुके जीतनेके लिये यह मालूम करना आवश्यक है कि शत्रु किस जगह रहता है, जिससे उसी स्थानपर अधिकार किया जाय, उसी तरह इस कामका स्थान इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं। यही नहीं, यह मन, इन्द्रियाँ और बुद्धिके द्वारा जिज्ञासुके ज्ञानको ढककर मोहमें फँसाये रहता है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि सर्वप्रथम इन्द्रियोंको नियममें रखकर ज्ञान-विज्ञानके नाश करनेवाले इस कामको मारो। इन्द्रियोंसे भी बलवान् मन है और मनसे भी बढ़कर बुद्धि है। इसलिये इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिसे परे आत्मतत्त्वको समझकर इन तीनोंके ऊपर अधिकार करके कामरूप शत्रुको मार डालो।'

यह भय मत करो कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिको वशमें करनेसे तुम्हारी कोई हानि हो जायगी। तुम तो नित्य ही इन तीनोंसे पृथक् हो।

**विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः ।**
**सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥**
( कठ० १ । ३ । ९ )

'पवित्र बुद्धि जिसका सारथि है और मन जिसका वशीभूत है, वही भगवान्के परमधाम—मोक्षके मार्गको तय कर सकता है।'

अतः अपने स्वरूपको पहचानकर समस्त कामनाओं-का परित्याग करनेपर ही तीनों प्रकारके ताप शान्त हो सकते हैं और तभी परब्रह्मकी प्राप्ति सम्भव है।

# पावन सम्भल-तीर्थ—२

( दण्डी स्वामी श्रीशुक्लबोधाश्रमजी महाराज )

## सम्भल-तीर्थके नाम, उसकी प्राचीनता और विशेषता

सृष्टिके आरम्भमें ही विश्वकर्माने अड़सठ तीर्थों और उन्नीस पुण्य-कूपोंके सहित सम्भलका निर्माण किया था। वेदोंमें विश्वकर्माको 'त्वष्टा' भी कहा गया है। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार 'तक्ष' और 'त्वक्ष'—ये दो धातुएँ शिल्पक्रियाके अर्थमें प्रयुक्त होती हैं। इन्हींसे 'तक्षा' और 'त्वष्टा'—ये दोनों शब्द सिद्ध हुए हैं। बढ़ई (खाती) के अर्थमें तक्षा और विश्वकर्माके लिये त्वष्टा कहा जाता है। ये शिल्पकलाके प्रवर्तक देवताओंके बढ़ई हैं—'देवानां स तु वर्धकिः (मत्स्यपुराण १।१५।११९-२०)।' इसीलिये खाती इन्हें अबतक भी अपना इष्टदेव मानते चले आ रहे हैं। खातियोंके द्वारा बनवाये गये विश्वकर्माके मन्दिर अनेक स्थानोंमें मिलते हैं। प्रत्येक विश्वविद्यालयके इंजीनियरिंग विभागमें आज भी पहले विश्वकर्माकी पूजा होती है। जरासन्ध और कालयवनके आक्रमणके समय श्रीकृष्ण भगवान्की आज्ञासे विश्वकर्माने एक ही रातमें 'द्वारकापुरी'को बनाकर वहाँ मथुरावासियोंको बसा दिया था। सुदामाजीके एक मुट्ठी चावल खाकर श्रीकृष्णने विश्वकर्मासे एक ही रातमें 'सुदामापुरी' बनवायी थी। विष्णु भगवान्के कल्कि-अवतारकी भूमि होनेके कारण सृष्टिके आरम्भमें ही विश्वकर्माने सम्भलको बसाकर इसमें तीर्थों और कूपोंका निर्माण किया था।

सत्ययुगमें इसका नाम 'सत्यव्रत' था, त्रेतामें 'महद्गिरि'-द्वापरमें 'पिङ्गल' और अब कलियुगमें 'शम्भल' है। चारों युगोंमें सम्भलके इन चार नामोंका उल्लेख आधुनिक शोध-ग्रन्थोंमें भी मिलता है। शम्भलकी आजकल 'सम्भल' नामसे ही प्रसिद्धि है। प्रस्तुत माहात्म्य और अन्यान्य पुराणोंमें भी तालव्य शकारसे 'शम्भल' नामका निर्देश है, किंतु आजकल दन्त्य सकारवाला 'सम्भल' नाम ही प्रचलित है। भाषा-विज्ञानके अनुसार उच्चारणकी सरलता इस परिवर्तनका कारण है। बहुत लोग तालव्य शकारका उच्चारण कर ही नहीं पाते। कहते हैं कि 'शम्भल' और 'सम्भल' दोनों 'शम्भ्वालय' शब्दके अपभ्रंश हैं। यद्यपि मूलग्रन्थोंमें शुद्ध शब्द 'शम्भ्वालय' ही प्रयोग होना चाहिये था, फिर भी वैसा न करके अपभ्रंश 'शम्भल' नामके प्रयोगका एक रहस्य है। बात यह है कि भारतकी प्राचीन शिष्टाचार-पद्धतिमें अत्यन्त आदरणीय व्यक्तियोंका प्रत्यक्ष नामोल्लेख अनुचित माना गया है। आज भी गुरुजनोंके नामका स्पष्ट निर्देश नहीं किया जाता। 'शम्भ्वालय' शब्दसे

'शम्भुका आलय' यह अर्थ स्पष्ट भावित हो जाता है। इसे गुप्त रखनेके लिये ही इस स्थानको 'शम्भल' कहा जाता है। कहा भी है—'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।'

सम्भल अत्यन्त प्राचीन कालसे एक नित्यनगरके रूपमें रहा है। अर्वाचीन शोध-कर्ताओंने भी इसपर व्यापकरूपसे प्रकाश डाला है। उनके अनुसार छठी शताब्दीमें हर्षके शासनकालमें सम्भलमें ब्राह्मणोंकी प्रधानता थी और उनके माध्यमसे ज्ञानका सूर्य सम्भलमें उदयाचलके शिखरपर चमक रहा था।

डॉ० ब्रजेन्द्रमोहन शांख्यधरके अनुसार ईसाकी बारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें पृथ्वीराज चौहानका सम्भलमें आधिपत्य था। उनकी सुपुत्री वेला वहाँ सती हुई थी। शत्रुओंपर आक्रमण करनेके लिये और उनके आक्रमणोंसे बचनेके लिये सम्भलके वातावरणको अपने अनुकूल देखकर पृथ्वीराजने सम्भलको अपनी राजधानी भी बनाया था। उन्होंने सुरंगोंके माध्यमसे भी अपनी रक्षाका प्रबन्ध किया था। प्रसिद्धि है कि यहाँ दिल्ली, अजमेर और कन्नौजको जानेवाली सुरंगें थीं। खुदाई होनेपर अब भी कहीं-कहीं उनके चिह्न मिलते हैं।

सम्भल-माहात्म्यके पढ़नेसे पता चलता है कि पूरा सम्भल हरि-मन्दिर ही है। इसके तीनों कोनोंपर तीन शिवलिङ्ग स्थापित हैं। दक्षिणमें सम्भलेश्वर और पूर्वमें चन्द्रेश्वर हैं तो उत्तरमें भुवनेश्वर। इसके बारह कोसके भीतरी क्षेत्रमें अड़सठ तीर्थ और उन्नीस कूप हैं। इसके इतने बड़े आकारमें ब्रह्माजीका निवास है। इसके ठीक मध्य तलवार हाथमें लिये घोड़ेपर सवार श्रीकल्कि विष्णु भगवान्‌की दिव्यमूर्तिसे सुशोभित 'हरिमन्दिर' है। इस प्रकार सम्भलमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों देवताओंका निवास यह सूचित करता है कि ये तीनों एक ही तत्त्व हैं, इनमें भेद नहीं।

सम्भलके तीनों कोनोंपर शंकर भगवान् स्थित हैं। इन तीन कोनोंवाले सम्भलकी बाहरी परिक्रमा चौबीस कोसकी है। प्रतिवर्ष कार्तिक शुक्ल पक्षकी चतुर्थी-पञ्चमीको इस परिक्रमामें हजारों नर-नारी सम्मिलित होते हैं। भीतरके परकोटेका क्षेत्रफल बारह कोस है, यहाँ ब्रह्माजीका निवास है।

हिंदू राजा दिग्विजय करके राज्यका शासन-सूत्र ही अपने हाथमें लेते थे, किंतु उन देशोंको जीतकर उनकी संस्कृति नहीं मिटाते थे। श्रीरामने रावणको जीतकर उसके भाई विभीषणको ही लङ्काका राज्य दिया। बालीको मारकर उसके भाई सुग्रीवको ही किष्किन्धा दी। कल्किपुराण तृतीय अंश, १८ अध्याय, श्लोक ४ में उल्लेख है—

**यत्राष्टषष्टितीर्थानां सम्भवः शम्भलेऽभवत्।**
**मृत्योर्मोक्षः क्षितौ कल्केरकल्कस्य पदाश्रयात्॥**

उसके अनुसार जहाँ अड़सठ तीर्थोंका सम्भव हुआ है, वह भगवान् कल्किके चरणोंके प्रतापसे मोक्षका धाम है। सम्भलमें ये सब तीर्थ अब भी हैं, पर सुधार आवश्यक है। सम्भलमें वैसे यहाँ सदैव सभी लोग एक परिवारकी तरह रहते चले आ रहे हैं और आशा है, आगे भी वैसे ही रहेंगे।

# राष्ट्रिय एकताकी समस्या

( लेखक—श्रीराजेन्द्रबिहारीलालजी एम्० एस्-सी० )

आजकल राष्ट्रिय एकताकी बहुत चर्चा है। इसके लिये समितियाँ बनायी गयी हैं, जुलूस और प्रभात-फेरियाँ निकाली जाती हैं, ईद-मिलन और राखी-बन्धन-द्वारा विभिन्न सम्प्रदायोंके लोगोंमें भाईचारेकी सद्भावना उत्पन्न की जाती है। निस्संदेह इन सबसे राष्ट्रिय एकताका भाव जगानेमें सहायता मिलती है। हम समझते हैं कि इतना कर लेनेसे देशमें एकताकी जड़ें मजबूत हो जायँगी, किंतु वास्तवमें ऐसा होता नहीं; क्योंकि हमारा सारा जोश मन्द और क्षणिक होता है, अतः जन-साधारणके आचार-व्यवहारपर कोई असर नहीं डाल पाता। सच तो यह है कि उच्च भावनाएँ जो सत्कार्यमें फलीभूत नहीं होतीं, वे मनुष्यको और भी ढोंगी और पाखंडी बना देती हैं।

एकता स्थापित करनेके लिये क्या करना चाहिये, इसे भलीभाँति समझनेके लिये एक अच्छे परिवारकी ओर देखिये। उसके सदस्य आयु, शिक्षा, स्वभाव और रुचिमें अलग-अलग होते हैं, किंतु सारी विभिन्नताओंके रहते हुए भी वे एक-दूसरेको दिलसे प्यार करते हैं। जलसे-जुलूसद्वारा वे अपने स्नेहका प्रदर्शन तो नहीं करते, किंतु वे एक-दूसरेका बराबर ध्यान रखते हैं, एक-दूसरेकी सेवा-सहायतामें लगे रहते हैं, एक-दूसरेके कष्ट-निवारण, विकास और उन्नतिके लिये अनेक प्रकारके उपाय करते रहते हैं। ऐसे कुटुम्बमें प्रेमका वास्तविक आधार आत्मीयता ही नहीं, अपितु परस्पर हित-चिन्तन, सहायता और सहयोग होता है।

मानव-शरीर भी एकताका अद्भुत नमूना है, अनेकता और विभिन्नतामें एकताका बड़ा सुन्दर उदाहरण है। शरीरके विपुल अङ्ग हैं। उनकी आवश्यकताएँ और कार्य अलग-अलग हैं, किंतु वे सब एक-दूसरेके विरोधी नहीं, पूरक और सहायक हैं। वे एक-दूसरेको और सारे शरीरको स्वस्थ और सुखी बनाये रखनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं। यह सच ही है कि सभी अङ्गोंके सामूहिक प्रयाससे ही शरीर सकुशल रह सकता है। सबकी भलाईके लिये मिलजुलकर पुरुषार्थ करना ही एकताका सच्चा अर्थ और प्रमाण है। इसके विपरीत यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि जिस समाज या देशमें बहुत-से लोग किसी-न-किसी प्रकारसे दूसरोंको ठगने या सताने लगे हैं, वहाँ एकताका नितान्त अभाव बना ही रहेगा; क्योंकि प्रत्येक आततायी अपनेको उन सबसे अलग समझता है, जिनसे कुछ ऐंठनेके लिये वह सदा अवसर खोजता रहता है। दुःख देनेका मार्ग चाहे भ्रष्टाचार हो या मुनाफाखोरी या आलस्य, अकर्मण्यता, अनुशासनहीनता या दवाओं और खाद्य पदार्थमें मिलावट या कुछ और, ये सभी पृथकवादके द्योतक और पोषक हैं। अलगाववाद चाहे व्यक्तियोंका हो या समुदायोंका—ये दोनों एक ही बीमारी—अर्थात् स्वार्थपरताके दो विभिन्न स्वरूप हैं और उन दोनोंका उपचार भी एक ही है—ऐसी शिक्षाका देशव्यापी प्रसार जिसमें मानव-प्रेम, परस्पर सेवा और सहायता तथा समान हितोंके लिये मिलजुलकर काम करनेपर बल दिया गया हो।

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगोंके रोकनेके लिये कानूनी और प्राशासनिक उपाय तो करने ही होंगे; किंतु हमें मानव-प्रेम, सदाचार, कड़ी मेहनत, समर्पित और प्रेमपूर्ण सेवाका संदेश भी घर-घर और

नगर-नगरमें पहुँचाना होगा। एकताकी कभी-कभी बात कर लेनेसे काम नहीं चल सकता। एकताकी भावना तभी फलीभूत हो सकती है जब वह सेवामें परिणत कर ली जाय।

सेवाके सभी काम, जिनसे दूसरोंकी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, कष्टनिवारण एवं विकास और उत्थानके लिये होते हैं, व्यक्ति और समाजके जीवनको बनाये रखनेके लिये तो वे अनिवार्य हैं ही, आध्यात्मिक उन्नतिके लिये भी उतने ही आवश्यक और उपयोगी हैं। हिंदू-शास्त्रोंके अनुसार सृष्टि, सब प्राणी और मनुष्य परमेश्वरके विराट् स्वरूपके अंश या अङ्ग हैं, इसलिये किसी भी जीवधारीकी सेवा विराट् भगवान्‌की सेवा है अर्थात् भगवान्‌के सर्वोपरि स्वरूपकी उपासना है।

प्राणिमात्रकी सेवा परम्परागत पूजाकी पूरक है, स्वयं पूजा है और भगवत्प्राप्तिका सीधा और सुगम मार्ग है। गीतामें श्रीकृष्णका ऐसा उपदेश है—'इसलिये तू अनासक्त हुआ निरन्तर कर्त्तव्य-कर्मका अच्छी तरह आचरण कर; क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्माको प्राप्त होता है।' (१३।१९) 'अपने-अपने कर्ममें तन्मय होकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि उसके द्वारा वह उस ईश्वरकी पूजा करता है, जिससे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे सारा जगत् व्याप्त है।' (१८।४५-४६)।

गीताने जो निष्काम कर्मपर बहुत जोर दिया है उसका आशय यही है कि समस्त काम अपना निजी स्वार्थ छोड़कर दूसरोंकी भलाईके लिये किये जायँ।

सहजीवियोंकी परिचर्या साधनाका केवल आवश्यक अङ्ग ही नहीं, अपितु निर्णायक तत्त्व है; क्योंकि यही पूजा, ध्यान और जपको सात्त्विक अर्थात् आध्यात्मिक विकासमें सहायक बनाता है। गीताने पूजा, जप और ध्यानको तपस्याकी परिभाषाके अंदर लानेके बाद (१७।१४-१६) सारी तपस्याको सात्त्विक, राजसिक और तामसिक रूपमें बाँट दिया है। धार्मिक कार्य सात्त्विक तभी बनते हैं जब दूसरोंकी या समाजकी भलाईके लिये किये जायँ। अपने स्वार्थ, मान, बड़ाई, धन या वरदान पानेके लिये किये गये सारे धार्मिक कार्य राजसी होते हैं और उनसे मनुष्यका आत्मिक विकास नहीं होता। दूसरोंको दुःख देनेके लिये किये गये धर्मकार्य तामस होते हैं और उनसे मनुष्यका पतन होता है (गीता १७।१७-१९)।

श्रीकृष्णने धार्मिक कार्योंको ही नहीं, सभी कार्योंको तीन श्रेणियोंमें बाँटा है। भागवतमें उनका कहना है कि जो भी काम मेरे लिये या फलेच्छा छोड़कर (अथवा दूसरोंकी भलाईके लिये) किये जाते हैं, वे सात्त्विक होते हैं। जो काम फलेच्छा रखकर किये जाते हैं, वे राजस होते हैं और जो पर-पीड़नके लिये किये जाते हैं, वे तामस होते हैं। ऐसा ही उपदेश गीतामें भी मिलता है (१८।२३-२५)।

पूजा और सेवाके परस्पर सम्बन्धको हमारे शास्त्र-कारोंने बहुत महत्त्व दिया है। भागवतमें यह अद्भुत उपदेश आता है—'जो भगवान्‌के अर्चा-विग्रह—मूर्ति आदिकी पूजा तो श्रद्धासे करता है, परंतु भगवान्‌के भक्तों या दूसरे लोगोंकी विशेष सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, वह साधारण श्रेणीका भक्त है।'

भक्तोंका ऐसा ही वर्गीकरण करके श्रीकृष्णने भागवतमें बताया है कि भक्त सात्त्विक तभी होता है, जब वह अपने सारे काम निष्कामभावसे अर्थात् दूसरोंकी भलाईके लिये करता है। अपने ही स्वार्थके लिये कार्य करनेवाला भक्त राजसिक और दूसरोंको दुःख देनेवाला भक्त तामसिक होता है।

इसके अतिरिक्त श्रीकृष्णने सेवा-धर्मपर भी बहुत बल दिया है और यहाँतक कहा है कि 'सेवाके बिना

जीवन सार्थक नहीं बन सकता। पहाड़से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि तुम्हारे सारे काम दूसरोंकी भलाईके लिये हों और तुम्हारा सारा जीवन दूसरोंके लिये हो। पेड़से यह शिक्षा लो कि तुम्हें सदा दूसरोंकी सेवाके लिये तैयार रहना चाहिये। सब प्राणियोंमें केवल उन्हींका जीवन सार्थक है जो अपने जीवन, धन, ज्ञान और वचनद्वारा दूसरोंकी भलाई करते हैं ( भागवत )।'

हमारे भक्त कवि भी परोपकार या सेवाधर्मकी महिमा गाते नहीं थकते—

चार वेद छः शास्त्रमें बात मिली हैं दोय।
सुख दीन्हें सुख होत है, दुख दीन्हें दुख होय॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
परहित बस जिन्हके मन माहीं। तिन कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

गाँधीजीके प्रिय भजनमें नरसी मेहताकी भी यही सीख थी—

'वैष्णव जन तो तेने कहियें जो पीर पराई जाने रे।'

गीताके अनुसार कष्टका निवारण योगकी एक परिभाषा है ( ६।२३ ) और सर्वश्रेष्ठ योगी वही है जो दूसरोंके दुःख-सुखको अपने दुःख-सुखके समान जानता है ( ६।३२ )। 'सर्वभूतहिते रताः'—सब प्राणियोंकी भलाईमें लीन रहनेका उपदेश गीतामें बार-बार आता है ( ५।२४, १२।४ ) और यही आशय कर्मफल-त्यागका भी है कि मनुष्य अपनी सम्पत्ति और कमाईको खुले दिलसे दूसरोंकी तथा समाजकी सेवामें अर्पण करे। कर्म-फल-त्याग गीताकी एक प्रमुख शिक्षा है और भगवान् कृष्णने तो यहाँतक कह दिया है कि कर्म-फल-त्याग ध्यान तथा अन्य साधनाओंसे भी श्रेष्ठ है और तत्काल परम शान्ति प्रदान करता है ( १२।१२ )।

हमारे शास्त्रोंने सर्वोत्तम भक्त और योगीका ही नहीं, सर्वोत्तम पूजा-विधिका भी निरूपण किया है और उसके द्वारा भी सेवाधर्मका महत्त्व सिखाया है। भागवतके अन्तमें श्रीकृष्णने अपने उपदेशका सारांश इन शब्दोंमें दिया है—'मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं उनमें सबसे श्रेष्ठ साधन मैं तो यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी सारी वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय।' गीतामें भी ऐसा ही निर्णय मिलता है—'बहुत जन्मोंके बाद ज्ञानी मुझे इस प्रकार भजता है कि सब कुछ ( सारी सृष्टि ) वासुदेव ही है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ( ७।१९ )।'

सच तो यह है कि जीवधारियोंकी सेवा-शुश्रूषा घट-घटवासी ईश्वरकी आराधना और सर्वश्रेष्ठ उपासना है।

कुछ लोग अपने-पराये, राग-द्वेषके पचड़ेमें फँसकर अपनी सेवा और सहायताको अपनी जाति, बिरादरी, सम्प्रदाय, मजहब या आसतकके लोगों या अपने गुरु-भाइयोंतक ही सीमित कर देते हैं। ऐसे भेद-भावपूर्ण परोपकारसे धर्म विकृत हो जाता है और द्वेष-मूलक साम्प्रदायिकता घटनेके बजाय और भी बढ़ जाती है। गीताने समत्वको योगकी एक परिभाषा बतायी है ( २।४८ ) और कई श्लोकोंमें समदर्शनका महत्त्व दर्शाया है। जो पुरुष सुहृदय, मित्र, वैरी, द्वेषी और बन्धुगणों तथा धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाववाला है, वह अति श्रेष्ठ है। जो योगी सम्पूर्ण भूतोंको और उनके सुख-दुःखको अपने समान सम देखता है, वह परम श्रेष्ठ माना गया है ( ६।९, ३२ )।

गीताने अन्य कई वाक्योंमें भी एकीभाव और समता-पर बहुत जोर दिया है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सब भूतोंमें स्थित मुझ परमेश्वरको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही

करता है ( ६ । ३१ ) । हे अर्जुन ! अब इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित हुए चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देखो ( ११ । ७ ) ।' अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त हुए, अर्थात् पृथक्-पृथक् हुए, सम्पूर्ण जगत्को उन देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्के शरीरमें एकत्र हुआ देखा ( ११ । १३ ) ।

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है ( १३ । २७ ) ।'

एक ओर गीताने समदर्शनपर बहुत बल दिया है तो दूसरी ओर भागवतने भेददृष्टिको बहुत धिक्कारा है—'जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष हृदयमें हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्यका भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त है। जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवोंके साथ वैर बाँधता है और इस प्रकार उनके शरीरमें विद्यमान मुझ आत्मासे ही द्वेष करता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिल सकती ।'

इस विषयमें गुरु नानकदेवके उपदेशोंपर ध्यान दीजिये—

बिसर गई सब बात पराई।
जब ते साधु संगति हम पाई॥
ना कोइ बैरी, नाहि बेगाना।
सकल संग हमरी बनि आई॥

प्रत्येक व्यक्ति समाजका चिरऋणी है और उसे अपने ऋणको चुकाना पड़ेगा । जो समाजके प्रति अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाता, जो गरीबोंकी सहायता नहीं करता, वह अपने कर्तव्यसे च्युत हो रहा है, इसलिये पापका भागी और दण्डका पात्र है ।

यह न समझना चाहिये कि केवल दान या धर्मार्थ किये हुए काम ही भगवान्की पूजा है । उद्योग-धंधे या कारोबारके सारे काम, जिनसे कर्मीकी जीविका चलती है और समाजकी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, स्वधर्मके भीतर आते हैं, परमात्माकी आराधना हैं और भगवद्-प्राप्तिमें उसी प्रकार सहायक होते हैं जैसे पूजा-पाठ, ध्यान आदि । ये सभी काम राष्ट्रकी एकता और सम्पन्नताके लिये अनिवार्य हैं । हाँ, इतना अवश्य है कि इन सब कार्योंको भी भगवान्का काम तथा भगवान्की सेवा समझा जाय और पूरी तन्मयता और कुशलतासे इन्हें भगवान्की प्रसन्नताके लिये किया जाय ।

दुष्ट लोगोंको समाजविरोधी कार्योंसे रोकनेके लिये शिक्षाका प्रसार, रोजगारके अवसरोंमें वृद्धि और गरीबोंके जीवनस्तरको ऊपर उठाना भी आवश्यक है ।

केवल मीठी बातें और कभी-कभी प्रेम-प्रदर्शनसे राष्ट्रिय एकता स्थापित नहीं की जा सकती । किसी समाजमें परस्पर प्रेम और एकताको सम्पूर्ण धर्म या सदाचारका श्रेष्ठतम फल समझना चाहिये । इसके लिये निरन्तर ठोस प्रयास करना होगा, तभी भारतवासियोंमें परस्पर प्रेम और भाईचारेकी भावनाको मूर्तरूप दिया जा सकेगा और तभी वह स्थायी एवं पुष्ट होगा । उन्हें शिक्षाके माध्यमसे कर्मठ, कर्तव्यनिष्ठ, सेवा-परायण और देशभक्त बनाना होगा । इसके लिये भगीरथ और सामूहिक प्रयास अवश्य करना चाहिये । यह लोक और परलोक दोनोंमें कल्याणका मार्ग है और इसीसे एक महान् भारतका निर्माण हो सकेगा—ऐसे भारतका जो स्वयं समृद्ध और सुखी होगा और दूसरे देशोंके लिये भी आदर्श और वरदान होगा ।

# गीता-तत्त्व-चिन्तन

( श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज )

## गीतामें परमात्मा और जीवात्मा

**जीवात्मा परमात्मा च तत्त्वतोऽभिन्न एव च।**
**लक्षणेषु द्वयोः साम्यं कृष्णेन कथितं स्वयम् ॥**

उपासनाकी दृष्टिसे परमात्माके तीन स्वरूप माने गये हैं—सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार। सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त और प्रकृति तथा उसके कार्य संसारमें परिपूर्णरूपसे व्यापक परमात्मा **'सगुण-निराकार'** कहलाते हैं। जब साधक परमात्माको दिव्य गुणोंसे रहित मानता है अर्थात् उसकी दृष्टि केवल निर्गुण परमात्माकी ओर रहती है, तब परमात्माका वह स्वरूप **'निर्गुण-निराकार'** कहलाता है। सगुण-निराकार परमात्मा जब अपनी दिव्य प्रकृतिको अधिष्ठित करके अपनी योगमायासे लोगोंके सामने प्रकट हो जाते हैं, तब वे **'सगुण-साकार'** कहलाते हैं। इन तीनों स्वरूपोंका वर्णन गीतामें इस प्रकार हुआ है—

**( १ ) सगुण-निराकार**—अभ्यासयोगसे युक्त एकाग्र मनसे परम पुरुषका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उसीको प्राप्त होता है ( ८ । ८ )। जो सर्वज्ञ, पुराण, सबका शासक, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, सबको धारण करनेवाला, अचिन्त्यरूप, अज्ञानसे अत्यन्त परे और सूर्यकी तरह प्रकाशस्वरूप है, उसका चिन्तन करते हुए अचल मन एवं योगबलके द्वारा प्राणोंको भृकुटीके मध्यमें लगाकर शरीर छोड़नेवाला मनुष्य उसी परम दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है ( ८ । ९-१० )। जिसके अन्तर्गत सब प्राणी हैं और जो सबमें व्याप्त है, उस परम पुरुषको अनन्यभक्तिसे प्राप्त करना चाहिये ( ८ । २२ )। जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मोंके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ( १८ । ४६ ); आदि-आदि।

**( २ ) निर्गुण-निराकार**—जिसे वेदवेत्तालोग अक्षर कहते हैं, वीतराग यतिलोग जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसे प्राप्त करनेकी इच्छासे ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं कहूँगा ( ८ । ११ )। जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव-तत्त्वकी उपासना करते हैं ( १२ । ३ ); आदि-आदि।

**( ३ ) सगुण-साकार**—अनन्यचित्तवाले जो भक्त नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं, उनके लिये मैं सुलभ हूँ ( ८ । १४ )। महात्मालोग मुझे प्राप्त होकर फिर दुःखालय और अशाश्वत पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते ( ८ । १४-१५ )। दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्मा-लोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अव्यय मानकर अनन्यचित्तसे मेरा भजन करते हैं ( ९ । १३ )। जो भक्त भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मुझे अर्पण करता है, प्रेमपूर्वक दिये हुए उस उपहारको मैं खा लेता हूँ ( ९ । २६ )। अनन्य-भक्तिसे ही मैं जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ और प्राप्त किया जा सकता हूँ ( ११ । ५४ ); आदि-आदि।

**सगुण-निराकारके साथ जीवात्माकी एकता**—जीवात्माके लिये कहा गया है कि उसे तुम अविनाशी समझो, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है ( २ । १७ ); और सगुण-निराकार परमात्माके लिये कहा गया है कि जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणी हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष अनन्यभक्तिसे प्राप्त

होता है ( ८ । २२ ) । मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ( ९ । ४ ); जिस परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उसका अपने कर्मोंके द्वारा पूजन करना चाहिये ( १८ । ४६ ) ।

जीवात्माको भी 'ईश्वर' कहा गया है ( १५ । ८ ) और सगुण-निराकार परमात्माको भी 'ईश्वर' कहा गया है ( १८ । ६१ ) ।

**निर्गुण-निराकारके साथ जीवात्माकी एकता**—जीवात्माको भी सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त बताया गया है ( २ । १७ ) और निर्गुण-निराकार परमात्माको भी सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंमें व्याप्त बताया गया है ( १३ । १५ ) ।

जीवात्माको नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु, अचल, अव्यक्त और अचिन्त्य ( २ । २४-२५ ), अप्रमेय ( २ । १८ ) तथा कूटस्थ ( १५ । १६ ) कहा गया है और निर्गुण-निराकार परमात्माको अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव कहा गया है ( १२ । ३ ) ।

जीवात्माको भी 'परमात्मा' कहा गया है ( १३ । २२ ) और निर्गुण-निराकार परमात्माको भी 'परमात्मा' कहा गया है ( ६ । ७ ) ।

जीवात्माको भी 'निर्गुण' कहा गया है ( १३ । ३१ ) और निर्गुण-निराकार परमात्माको भी 'निर्गुण' कहा गया है ( १३ । १४ ) ।

**सगुण-साकारके साथ जीवात्माकी एकता**—जीवात्माको भी 'महेश्वर' कहा गया है ( १३ । २२ ) और सगुण-साकार परमात्माको भी 'महेश्वर' कहा गया है ( ५ । २९; ९ । ११; १० । ३ ) ।

तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने 'तुम सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही जानो'—ऐसा कहकर जीवात्माकी अपने ( सगुण-साकारके ) साथ एकता बतायी है ।

सब स्वरूपोंके साथ जीवात्माकी एकता बतानेका तात्पर्य यह है कि इस जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता स्वतः है; परंतु शरीरके साथ एकता माननेसे परमात्माके साथ एकताका अनुभव नहीं होता । अतः साधकको चाहिये कि वह शरीरके साथ अपनी एकता न माने, प्रत्युत परमात्माके साथ दृढ़तासे एकता मानकर साधन-परायण हो जाय, तो फिर उस एकताका अनुभव हो जायगा ।

**सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार और सगुण-साकारकी एकता**—तेरहवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने इन तीनों रूपोंकी एकता की है; जैसे—**'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'** अर्थात् वह तत्त्व सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला होनेसे सगुण-निराकार है; **'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्, निर्गुणम्'** अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे और सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंसे रहित होनेसे निर्गुण-निराकार है; **'सर्वभृत्, गुणभोक्तृ'**—अर्थात् सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाला तथा गुणोंका भोक्ता होनेसे सगुण-साकार है । इसके सिवाय अन्यत्र भी तीनों रूपोंकी एकता बतायी गयी है; जैसे—उसीको अव्यक्त और अक्षर कहा गया है तथा उसीको परमगति कहा गया है और जिसे प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर नहीं आते, वह मेरा परमधाम है ( ८ । २१ ) । ब्रह्म, अविनाशी, अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं ही हूँ ( १४ । २७ ) ।

अर्जुनने भी विराटरूप भगवान्‌की स्तुति करते हुए ग्यारहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें तीनों रूपोंकी एकता की है; जैसे—**'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्'** अर्थात् आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर ( अक्षरब्रह्म ) होनेसे

निर्गुण-निराकार हैं; 'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्' अर्थात् आप ही इस विश्वके परम आश्रय होनेसे सगुण-निराकार हैं; 'त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता' अर्थात् आप ही सनातनधर्मके रक्षक होनेसे सगुण-साकार हैं।

**जीवात्माका स्वरूप**—गीतामें जीवात्माके स्वरूपके विषयमें भगवान् कहते हैं कि यह जीव मेरा ही सनातन अंश है; परंतु मेरा अंश होकर भी यह इस जीवलोकमें जीव बना हुआ है और प्रकृतिमें स्थित इन्द्रियाँ, मन आदिको अपना मानता है ( १५ । ७ )। प्रकृतिमें स्थित होकर अर्थात् शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानकर यह सुख-दुःखका भोक्ता बन जाता है। प्रकृतिजन्य गुणोंका, विषयोंका सङ्ग ही इसे ऊँच-नीच योनियोंमें ले जानेका कारण बनता है ( १३ । २१ )। यह जीवात्मा मेरी 'परा प्रकृति' है, पर इसने 'अपरा प्रकृति' ( शरीर-संसार ) के साथ अहंता-ममता करके इस जगत्‌को धारण कर रखा है ( ७ । ५ )। अपरा प्रकृतिके साथ इस परा प्रकृतिके सम्बन्धको जोड़नेसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है ( ७ । ६; १३ । २६ )।

इस जीवात्माका वर्णन दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक देही, शरीरी, नित्य, अविनाशी, अप्रमेय आदि शब्दोंसे किया गया है। तेरहवें अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकोंमें इसे 'क्षेत्रज्ञ' और उन्नीसवें श्लोकमें 'पुरुष' कहा गया है। इसीको पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'अक्षर' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि वास्तवमें यह परमात्माका अंश होनेसे परमात्मस्वरूप ही है। रागके कारण प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही यह जीव बना है। वास्तवमें यह शरीरमें स्थित रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है ( १३ । ३१ )।

## गीतामें ईश्वर और जीवात्माकी स्वतन्त्रता

**कर्तुं तथान्यथाकर्तुं स्वतन्त्र ईश्वरः सदा।**
**प्रकृतेर्वशतात्यागे जीवात्मा स्ववशः सदा॥**

'स्व' नाम स्वयंका है, 'पर' नाम दूसरेका है और 'तन्त्र' नाम अधीनका है। अतः जो स्वयंके अधीन होता है, उसे 'स्वतन्त्र' ( स्वाधीन ) कहते हैं और जो दूसरोंके अधीन होता है, उसे 'परतन्त्र' ( पराधीन ) कहते हैं। स्वतन्त्र और परतन्त्रके भावका नाम ही स्वतन्त्रता और परतन्त्रता है।

यद्यपि ईश्वरमें कर्तृत्व नहीं है और ईश्वरके अंश इस जीवात्मामें भी तत्त्वतः कर्तृत्व नहीं है, तथापि ईश्वरमें प्रकृतिको लेकर कर्तृत्व है और जीवात्मामें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदिको लेकर कर्तृत्व है; परंतु इन दोनोंके कर्तृत्वमें बड़ा भारी अन्तर है। ईश्वर तो प्रकृतिके अधिपति होते हुए ही प्रकृतिको अपने वशमें करके स्वतन्त्रतासे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि कार्य करते हैं ( ४ । ६; ९ । ८ ) और यह जीवात्मा सुखासक्तिके कारण शरीर आदिके वशीभूत होकर परतन्त्रतासे कार्य करता है ( १५ । ७—९ )। जैसे भगवान् प्रकृतिको स्वीकार करने और न करनेमें स्वतन्त्र हैं और स्वीकार करनेपर भी भगवान् परतन्त्र नहीं होते, ऐसे ही यह जीवात्मा भी शरीर आदिको 'मैं-मेरा' मानने और न माननेमें स्वतन्त्र है, पर उन्हें 'मैं-मेरा' माननेपर जीवात्मा अपनी स्वतन्त्रताको भूलकर उनके अधीन ( परतन्त्र ) हो जाता है। अतः परिणाममें यह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ जाता है।

जीवात्माकी यह परतन्त्रता स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत स्वयंकी बनायी हुई, स्वयंकी मानी हुई है। तात्पर्य यह है कि जब यह जीवात्मा स्वयं रागके कारण प्रकृतिके कार्य शरीरादिकी अधीनता स्वीकार कर लेता है, तब यह परतन्त्र हो जाता है और जब यह प्रकृतिके कार्यकी अधीनताको अस्वीकार कर देता है, तब यह स्वतन्त्र हो जाता है अर्थात् अपनी स्वतःसिद्ध स्वतन्त्रताका, अपने

स्वरूपका अनुभव कर लेता है । ऐसा अनुभव करनेमें वह स्वतन्त्र है ।

जब यह जीवात्मा अपनी स्वतःसिद्ध स्वतन्त्रताको लेकर भी संतुष्ट नहीं होता, तब उसका भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम हो जाता है । प्रेम होनेपर भगवान् उसके वशमें हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि जब यह प्रकृतिके कार्यको छोड़कर भगवान्‌को स्वीकार कर लेता है, तब सर्वस्वतन्त्र भगवान् भी इसके अधीन हो जाते हैं । इतना ही नहीं, इसके अधीन होकर वे आनन्दका अनुभव करते हैं । इतनी स्वतन्त्रता भगवान्‌ने इस जीवात्माको दे रखी है ।

# गोरक्षा और भगवान् बुद्ध

( लेखक—श्री'मधुप' )

## गोरक्षाके विषयमें भगवान् बुद्धके विचार

दुःखकी बात है कि आज बर्मा आदि बौद्ध देशोंके निवासी गो-मांसका भक्षण करते हैं । उनके इस कदाचारको देखकर भारतवासी समझते हैं कि बौद्ध भाई प्रायः गोमांस-भक्षी होते हैं और भगवान् बुद्धने अवश्य ही गोहत्याके विरुद्ध कोई विशेष बात नहीं कही होगी, किंतु वास्तवमें तथ्य इसके सर्वथा विपरीत है । भगवान् बुद्धके हृदयमें गौओंके प्रति अटूट श्रद्धा और दया थी । भगवान् बुद्धने जहाँ समस्त संसारके जीवोंकी रक्षापर बल दिया है, वहाँ गो-रक्षापर विशेषरूपसे बल दिया है । गौके विषयमें उनकी भावनाका वर्णन खुद्दक-निकाय-अन्तर्गत सुत्तनिपातके **'ब्राह्मणधम्मियसुत्त'** तथा **'अट्ठ-कथा'** में विशेषरूपसे मिलता है । इस वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् बुद्धने अपने समयमें भी गोहिंसाको रोकनेका पूर्ण प्रयत्न किया था ।

**'ब्राह्मणधम्मियसुत्त'** श्लोक १३ में भगवान् बुद्धने स्पष्ट कहा है—

**यथा माता पिता भ्राता, अ चे वापि च जातका ।**
**गावो नो परमा मित्ता, यासु जायन्ति च ओसधा॥**

अर्थात् जैसे माता, पिता, भाई और दूसरे बन्धु हैं, वैसे ही गौएँ हमारी परम मित्र हैं, जिनसे कि औषधियाँ पैदा होती हैं । भगवान् बुद्धकी गौओंके विषयमें यह बड़ी ही प्रशंसनीय उच्च भावना है । भगवान् बुद्धने पुराने ऋषियों एवं तपस्वियोंके आचरणके विषयमें अपने उद्‌गार **'ब्राह्मणधम्मियसुत्त'** में इस प्रकार प्रकट किये हैं—

'पुराने ऋषि संयमी और तपस्वी होते थे । वे पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे मनको हटाकर ज्ञान-ध्यानमें अपना समय व्यतीत करते थे । वे पशु, सोना-चाँदी या अनाजका संग्रह नहीं करते थे । वास्तवमें स्वाध्याय ही उनका धन-धान्य था और ब्राह्मणोचित गुण—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि ही उनके कोष थे । वे अड़तालीस वर्षतक कुमार रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते थे और उसके बाद विवाह करते थे । वे ब्रह्मचर्य, शील, सरलता, नम्रता, तप, कोमलता, करुणा और क्षमाकी प्रशंसा करते थे । उनमें सर्वोत्तम दृढ़ पराक्रमी ब्रह्मा थे, जिन्होंने स्वप्नमें भी स्त्री-सङ्ग नहीं किया । वे चावल, शय्या, वस्त्र, घी और तेलकी भिक्षा करके धर्मके अनुसार यज्ञ करते थे । यज्ञमें गौको वे नहीं मारते थे ।'

वे गौ[1] अन्न, बल, रूप और सुखको देनेवाली है, यह जानकर ही गौकी रक्षा करते थे । जबतक वे

१—अन्नदा बलदा चेता, वण्णदा सुखदा तथा । एतमत्थवसं ञत्वा, नास्सु गावो हनिंसु ते ॥१४॥
—ये ही अन्न, बल, वर्ण, रूप तथा सुखकी दाता हैं—इस बातको जानकर ही वे गौको नहीं मारते थे ।

सुकुमार, महाकाय, वर्णवान्, यशस्वी ब्राह्मण अपने धर्म, कर्तव्य-अकर्तव्यको जानते हुए अपने-अपने धर्मका पालन करते रहे, तबतक संसारमें प्रजा सुखसे रही ।'

प्राचीन ब्राह्मणों तथा गौओंके विषयमें भगवान् बुद्धके ये उद्गार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और हमें गोरक्षाके महत्त्वको बतलाते हैं । भगवान् बुद्धने गोहिंसाके विषयमें यहाँतक कहा है—

संसारमें पहले केवल तीन रोग थे—इच्छा, भूख और वृद्धावस्था; किंतु जबसे हिंसा होने लगी, तबसे वे बढ़कर अट्ठानबे हो गये ।[२]

भगवान् बुद्धने गो-हिंसाके प्रति स्पष्ट शब्दोंमें कहा था—

**एवमेसो अनुधम्मो, पोराणो वि ञु गरहितो ।**

अर्थात् यह गोहिंसा इस प्रकार प्राचीन विद्वानोंद्वारा निन्दित नीच कर्म है ।

## भगवान् बुद्धके पश्चात्—

बौद्ध-इतिहासको देखनेसे पता चलता है कि भगवान् बुद्धके निर्वाणके कई सौ वर्ष बाद भी कुछ धर्मानुयायियोंमें वही उत्तेजना रही । बौद्धलोग गोहिंसाको रोकनेका भरसक प्रयत्न करते रहे । सन् १३५२ ई०में बर्मास्थित विजयपुराके राजा सीहसूरके प्रधान मन्त्री श्रीमहाचतुरङ्ग बलने 'लोकनीति' नामक एक ग्रन्थकी रचना की है । जान पड़ता है कि बर्मामें उस समय भी गोहिंसा बराबर बढ़ती जाती थी । अतएव उन्होंने उसे रोकनेके लिये गोमांसको निम्नशब्दोंमें त्याज्य ठहराया है—

**'ये च खादन्ति गोमंसं, मातु मंसं व खादये ।'**

( लोकनीति ७ । १५ )

**अर्थात्** जो गायके मांसको खाते हैं, वे अपनी माताका मांस खायें । उन्होंने बैलोंकी भी उपेक्षा नहीं की, बैलोंकी हत्यासे दयार्द्र होकर उन्होंने कहा है—

**गोणा हि सब्ब गिहीनं, पोसका भोगदायका ।**
**तस्मा हि माता पितु व, मानये सक्करेय्य च ॥**

( लोकनीति ७ । १४ )

अर्थात् बैल ही सब गृहस्थोंको भोगदाता तथा पुष्ट करनेवाले होते हैं । इसलिये उन्हें माता-पिताके समान मानकर उनकी पूजा करनी चाहिये ।

इधर बौद्ध-प्रधान देशों और विशेषकर बर्मामें मांस-भक्षणका खूब प्रचार है । आजकलके बर्मावासी तो सर्वभक्षी समझे जाते हैं और गो-मांससे भी घृणा नहीं करते । अतएव वहाँ सदा ही गोहिंसाको रोकनेका प्रयत्न होता रहा । अभी पिछले दिनों महास्थविर लेडी सयानो डी० लिट्ने बर्मामें बढ़ती हुई गो-मांस खानेकी प्रवृत्तिको रोकनेका पूर्ण प्रयत्न किया । उन्होंने भगवान् बुद्धके **'ब्राह्मणधम्मियसुत्त'** आदि उपदेशोंको बौद्ध जनताके सामने रखकर उन्हें गो-मांसका त्याग करनेकी प्रेरणा की, जिसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता मिली ।

## आजकी स्थिति

आज हम फिर नवीन युगका श्रीगणेश कर रहे हैं । आज हम प्राचीन बृहत्तर भारतके स्वप्न देखकर भारतीय आर्य-धर्मका पालन करनेवाले संसारभरके निवासियोंके साथ प्रेम-बन्धनमें बँधना चाहते हैं । यही कारण है कि सारनाथमें बौद्धोंके पास एक इंचभर जमीन न होते हुए भी वहाँ बौद्धोंका एक 'आर्य-संघाराम' तथा एक विशाल मन्दिर बन गया । इसी कारण आज भारतकी नवीन विभूति भगवान् सत्यनारायण, शिव और शक्तिके मन्दिरके बगलमें ही बौद्ध-मन्दिर भी बना हुआ दीख पड़ता है । आज संसारके तुलनात्मक विद्वान् बौद्ध-ग्रन्थोंके अंदरसे उपदेशके तत्त्व ढूँढ़-ढूँढ़कर उन्हें जनताके पास पहुँचा रहे हैं । ऐसी स्थितिमें यदि हमारे एक भाईमें त्रुटि भी हो तो हम उसे भगवान् बुद्धके पवित्र

---

२—तयोरोगा पुरे आसुं, इच्छा अनसनं जरा । पसूनं च समारम्भा, अट्ठनावुतिमागमुं ॥ २८ ॥

वचनकी याद दिलाकर प्रेमसे समझायेंगे। जिससे वह अपने उस दोषको समझकर स्वयं ही छोड़ दे और निरामिषभोजी होकर अपनी आत्माको पवित्र करे।

सारांश यह है कि भगवान् बुद्धकी एतद्विषयक आज्ञा बिल्कुल स्पष्ट है और वे गो-मांसके अत्यन्त विरोधी हैं। आशा है कि हमारे भारतवासी भाई भगवान् बुद्धके इन स्पष्ट वचनोंको जानकर उनके विषयमें अपनी धारणाको ठीक कर लेंगे और भूमण्डलपर फैले हुए सनातनी, आर्य-समाजी, सिख, जैन, बौद्ध आदि सत्तर करोड़ सभी आर्य-हिंदूधर्मी एक हैं, इनमें कोई भेद नहीं है, ऐसा समझेंगे।'

**सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।**
**अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥**

'दण्डसे सभी डरते हैं, मृत्युसे सभी भयभीत होते हैं। औरोंको भी अपने ही-जैसा समझकर न उनका हनन करे, न घात करे।' —संगृहीत

# गो-हत्याका दुष्परिणाम

**जो उच्छृङ्खलतावश मांस बेचनेके लिये गौकी हिंसा करते या गो-मांस खाते हैं तथा जो स्वार्थवश कसाईको गाय मारनेकी सलाह देते हैं, वे सब महान् पापके भागी होते हैं। गौको मारनेवाले, उसका मांस खानेवाले तथा उसकी हत्याका अनुमोदन करनेवाले पुरुष गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक नरकमें निवास करते हैं।** (महा० अनु० ७४। ३-४)

---

१—'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे' वर्तमान समयमें संगठित शक्तिद्वारा ही जातियाँ जीवित रह सकती हैं। क्षुद्र विचार अज्ञान, निर्बलता, भेदभाव, असंगठनसे तथा अपने प्राचीन गौरवको भुला देनेसे ही संसारकी प्रायः आधी प्रजा अर्थात् भगवान् बुद्धके उपदेशोंको आदरकी दृष्टिसे देखनेवाले सत्तर कोटि आर्यलोग पददलित और दीन-हीन हो रहे हैं। अतः एक-एक आर्य-हिंदू-धर्मीका कर्तव्य है कि वह अपने खोये हुए प्राचीन-गौरव, समृद्धि, शक्ति, विद्या, बल, बुद्धि, सुख-साम्राज्य, कीर्ति तथा उच्चपदको शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लेनेके लिये सर्वथा दृढ़संकल्प होकर प्रयत्न करे। इसीसे शरीर और आत्मा, धन और धर्म, इह लोक और परलोक, स्वर्ग और मोक्ष—सबकी सिद्धि हो सकती है तथा वर्तमान महान् दुःख-समुदायोंसे छुटकारा मिल सकता है।

हिंसाके द्वारा विश्वभरमें दुःखोंका सागर उमड़ चला है। हमारे धर्ममें अहिंसाको परम धर्म माना है। ऐसा विचारकर 'अहिंसा-धर्मका' पालन और प्रचार करना परम आवश्यक है। जो किसीको जीवन-दान नहीं दे सकता, उसे किसी भी प्राणीका जीवन नष्ट करनेका अधिकार कैसे हो सकता है? अतः हिंसा करना अप्राकृतिक, नियम एवं नीतिके विरुद्ध प्रणाली है। चटोरे, पेटू, लोभी या पराये स्वत्वको अन्यायसे हड़पनेवाले लोगोंने ही हिंसाका सहारा ले रखा है, पर यह सर्वथा अधोगतिमें ले जानेवाला है। फिर गौ-जैसी सर्वोत्तम सर्वजन-हितकारिणी, सब समयमें सब प्रकारसे लाभ पहुँचानेवाली पशु-जातिकी हिंसा करना तो मनुष्य-जातिके जीवनपर ही कुठाराघात करने-जैसा है। विश्वके सर्वोत्तम ग्रन्थरत्न 'भगवद्गीता'में 'अभय' को ही दैवी सम्पदाका सर्वप्रथम गुण बताया गया है। स्वयं निर्भय रहना, सबको अभय देना तथा भयरहित सर्वोत्तम पदकी प्राप्ति करना ही सबके जीवनका परम ध्येय है—ऐसा महात्माओंने कहा है।

कहानी

# सुदामाका स्वागत

( लेखक—श्री 'चक्र' )

पत्नीके आग्रह-अनुरोध तथा अपने मुग्धमोहन सलोने बालसखाकी अनोखी छबिसे नेत्रोंको तृप्त करनेकी लालसासे सुदामा किसी प्रकार दो मुट्ठी चिउड़ाकी पोटली लेकर द्वारका पहुँचे। उनके सखा सर्वेश होकर भी दीनबन्धु ठहरे। अतएव वे उनका आतुर आलिङ्गन पाकर उनके अन्तःपुरमें पहुँच गये। सखाके निजी पर्यङ्कपर उन्हें आसन मिला।

द्वारकाका वैभव, जिसमें लोकपालोंकी सब विभूतियाँ आकर एकत्र हो गयी थीं, संसारकी तो चर्चा ही व्यर्थ है। द्वारकाने स्वर्गको सुधर्मा सभा और कल्पवृक्षसे सूना कर दिया था। इस वैभवमयी नगरीमें द्वारकेशका भवन और उसमें भी उनकी प्रधान प्रिया श्रीरुक्मिणीजी-का अन्तःपुर तथा वहाँ भी श्रीश्यामसुन्दरका पर्यङ्क। विश्वकी सारी विभूति, सम्पूर्ण सुषमा एवं समस्त लालित्य मानो साकार घनीभूत हो गया था। मैल जमे, बिवाइयोंसे शतशः विदीर्ण चरण मानो ग्रीष्मका शुष्क सरोवर दरारोंसे मुख फाड़े खा जाना चाहता हो। घुटनेसे भी ऊपर ही मैली धोती, जो स्थान-स्थानपर पैबंद लगी और गाँठोंसे भरी थी। इतनेपर भी बेचारी शरीरको पूरा ढक नहीं सकती थी। उसमेंसे जानुओंका सूखा चमड़ा उतावलीसे बाहर आनेको झाँक रहा था—स्थान-स्थानसे। उस धोतीका भी बड़ा भाई उत्तरीय तो अपने अस्तित्वपर रो रहा था। सिरपर वह भी नहीं। हड्डीके ढाँचेपर चर्म मढ़ दिया गया था। नसें ऐसी उभड़ गयी थीं मानो किसीने ऊपरसे चिपका दी हो। रक्त-मांसका नाम नहीं। दुर्बलता, दरिद्रता एवं करुणाकी साकार प्रतिमा!

उन नटखटने किया क्या? दरिद्रता एवं कुरूप करुणाकी इस प्रतिमाको उस विभूति तथा सौन्दर्य-माधुर्यके घनीभावपर उठाकर अपने हाथोंसे स्थापित कर दिया। इसीलिये तो वे दीनबन्धु अनाथनाथके साथ श्रीपति सर्वेश हैं। यह क्या कम उपहास हुआ। नटखट ही क्या जो यहीं शान्त रहे। सुदामाको पता ही नहीं था कि अभी सोलह हजार एक सौ आठका चक्कर शेष है।

पता नहीं होली थी कि नहीं, किंतु बहुत दिनपर दो बाल-मित्र मिले थे। यही उनके लिये पर्याप्त था। आमोद, कौतुक आज न होगा तो कब होगा? श्यामसुन्दर ठहरे सदाके शरारती, उन्होंने रुक्मिणीजीको कुछ संकेत किया और नाटक प्रारम्भ हो गया।

सुदामा पलंगपर बैठे थे। उन्होंने स्नान-भोजन कर लिया था। मार्गका श्रम दूर हो चुका था। अब रुक्मिणीजीने आकर उनके श्रीचरणोंपर मस्तक रखा। सुदामा इतनी देरमें उनसे परिचित हो चुके थे। उन्होंने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया—'सौभाग्यवती, पुत्रवती, पतिप्रिया भव।' रुक्मिणीजी एक ओर हट गयीं। सत्यभामाजी आयीं। उन्होंने भी वैसे ही प्रणाम किया। सुदामाने परिचयके लिये सखाके मुखकी ओर दृष्टि की।

'ये आपके सखाकी'—श्यामसुन्दर मुसकराये।

'सौभाग्यवती, पुत्रवती, पतिप्रिया भव।' ब्राह्मणने आशीर्वाद दिया और वे भी हट गयीं। अब जाम्बवतीजीने चरणोंपर मस्तक रखा। विप्रने दृष्टि उठाकर सखासे फिर परिचय चाहा।

'ये भी।' सखाके मन्द मुसकानमें संक्षिप्त परिचय कर लिया। फिर वही आशीर्वाद मिला और उनके हटनेपर सत्याजी आकर प्रणत हुईं। इस बार सखाकी ओर दृष्टि उठानेपर केवल संकेतसे संक्षिप्त उत्तर मिला—'हूँ।' बेचारे ब्राह्मणने आशीर्वाद दे दिया।

दो, चार, छः—यह तो प्रणाम करनेवालोंका ताँता ही नहीं टूटता। 'कितनी रानियाँ हैं, इनकी?' ब्राह्मणने मन-ही-मन कहा। परिचय-जिज्ञासाके उत्तरमें वही 'हूँ' मिलते देख उन्होंने परिचय जाननेके लिये सखाकी ओर देखना छोड़ दिया और धड़ाधड़ आशीर्वाद देने लगे।

दर्जन पूरी होते-होते ब्राह्मणको लगा कि उसका आशीर्वाद बहुत लंबा है और रानियोंका ताँता टूटता ही नहीं था। इसलिये उन्होंने अपने आशीर्वादका संक्षिप्त संस्करण किया 'पुत्रवती, पतिप्रिया भव!'

लगभग एक दर्जन प्रणाम और हुए। ब्राह्मण-देवता घबराये। उन्होंने फिर आशीर्वादको संक्षिप्त किया 'पतिप्रिया भव!' किंतु यहाँ तो रानियोंका ताँता लगा था। जब आशीर्वाद देते-देते थक गये, तब केवल 'भव!' कहकर काम चलाने लगे और जब जिह्वाने सत्याग्रह कर दिया तो हाथ हिलाकर ही संतोष करना पड़ा। बेचारा वह दुर्बल हाथ भी कबतक साथ देता, थक गया। सिर हिलाकर, नेत्रोंके संकेतसे आशीर्वाद देना प्रारम्भ हुआ। यहाँ भी पार पड़ता दीख नहीं पड़ा। शरीर बैठे रहनेमें भी असमर्थ होने लगा। ब्राह्मण झुँझला गये।

'भाई! तुम्हारी रानियोंकी संख्याका आदि-अन्त भी है या तुम्हारी ही भाँति वे भी अनन्त हैं?' उन्होंने कातर वाणीसे पूछा।

'नहीं-नहीं।' सखा मुसकराये—'अभी दो हजार सात सौ तेरहने प्रणाम किया है। रानियोंकी संख्या केवल सोलह हजार एक सौ आठ है।'

'बाप रे!' सुदामा बहुत घबराये! 'अब इस आशीर्वादसे पिण्ड कैसे छूटे?' उन्होंने कहा—'संख्या तो चाहे जितनी बढ़े, कोई आपत्ति नहीं। वह खूब बढ़े, पर यह सबको आशीर्वाद·······।' उन्होंने अपनी उलझन प्रकट की।

सखा जोरसे हँस पड़े। रानियाँ भी मुसकरा पड़ीं। ब्रह्मण्यदेवको ब्राह्मणपर दया आयी। उन्होंने झट बीचमें उठकर विप्रके चरणोंपर अपना मस्तक रख दिया। सुदामा डरे—'इन्होंने एक संख्या और बढ़ा दी।' किंतु किसीने हृदयमें कहा 'पति अपनी सभी पत्नियोंका प्रतिनिधि होता है।' झट प्रसन्नतासे खिल उठे। आशीर्वाद दिया—'तुम्हारी सभी पत्नियाँ सौभाग्य-वती, पुत्रवती और तुम्हें प्रिय हों।' इस प्रकार उन्हें आशीर्वादसे छुट्टी मिली। सभी रानियोंने एक ही साथ अञ्जलि बाँधकर सिर झुका दिये।

× × ×

'कल तो समय मिला नहीं, आज सब आपकी सेवा करनेका सौभाग्य चाहती हैं।' नटखट सखाने भूमिका बनायी।

सुदामाको स्नान करना था। वे विशाल सौधके प्राङ्गणमें अपने बालसखाका हाथ पकड़े पधारे। मध्यमें स्वर्णकी चौकी बिछी थी। उन्होंने उसपर चरण रखा ही था कि सारा प्राङ्गण तथा उसके चारों ओरके बरामदे सोलह हजार एक सौ आठ चल स्वर्णलतिकाओंके द्वारा झूम उठे। सौन्दर्य एवं सुरभि फटी पड़ती थी। किसीके हाथमें उबटन, किसीके चन्दन, किसीके तैल और किसीके करोंमें सुवासित जलसे पूर्ण स्वर्णकलश। विप्रके दर्शन रिक्त-हस्त करनेकी धृष्टता किसीने नहीं की थी।

ब्राह्मणने एक बार दृष्टि उठायी। 'उफ्! इतनी भीड़! एक-एक बूँद भी जल डालें तो मेरा क्या होगा!'

वे बहुत डरे। उनके सखा हँस रहे थे। बड़ी ही नम्रतासे उन्होंने कहा—'समस्त विश्वकी श्रद्धाका विपुल उपहार ग्रहण करनेकी क्षमता तुम सर्वशक्तिमान्‌में ही है। यह तीन हड्डियोंका कंकाल पूजाके इस विराट् सम्भारको सह लेनेमें समर्थ नहीं।'

सखा क्यों उत्तर देने लगे? वे एक ओर खिसक गये। उस सुषमाकी भीड़ने कलकण्ठसे स्तुतिगान प्रारम्भ किया और साथ ही विप्राभिषेक भी। जैसे ही कुछ मृदु करोंने ब्राह्मणके शरीरपर उबटनका स्पर्श कराया—वे नेत्र बंद करके बैठ गये और लगे अपने नटखट सखाका ध्यान करने। उन्हें आशा नहीं थी कि वे इस चन्दन, तैल और जलके प्रवाहमेंसे निकल कर फिर खड़े होने योग्य रहेंगे।

उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ। उन्होंने नेत्र बंद किये-ही-किये अनुभव किया कि सुगन्धित उबटनके कीचमें शरीर आकण्ठ ढक दिया गया है। हाथ हिल नहीं सकते। वे डरे—'कहीं और उबटन चढ़ा तो नाक-आँख भी·······। उन्हें उबटन-समाधि लेनी होगी।' पर ऐसा हुआ नहीं। उनके मस्तकपर तैलकी सुगन्धित धारा पड़ने लगी। शिवजीके ऊपर तो सब धाराबद्ध जल चढ़ाते हैं और वहाँ बहुमूल्य तैल-इत्र। विप्रने तनिक नेत्र खोले। आँगनमें इत्र मोरियोंमें उमड़ चला था। 'कहीं नेत्रोंमें न जाय।' उन्होंने नेत्र जोरसे बंद कर लिये। वैसे ही बोले—'ऐसी अखण्ड धारा चढ़ानी है तो शंकरजीको पकड़ लाओ।' पर उस स्तोत्र-गानमें उनकी सुने कौन?

तैल-इत्र बंद हो गया और केशरिया चन्दन चढ़ने लगा। उबटनने तो कण्ठतक ही जकड़ा था, चन्दन दो-चार सेर मस्तकपर भी चढ़ ही गया। कुशल इतनी रही कि नाक और मुख ढकनेके पूर्व ही मस्तकपर जल-धारा पड़ी। मन्दोष्ण सुवासित जलकी कुछ पतली और कभी-कभी मोटी धारें मस्तकसे चरणोंतक पड़ रही थीं। शरीर थोड़ी ही देरमें थरथरा उठा। रोमाञ्च हो आया और तभी जल-धारा और स्तुति-गान समाप्त हो गया। सहसा शान्ति हो गयी।

'ध्यान ही करते रहेंगे या वस्त्र भी बदलेंगे?' अपने करोंमें सुकोमल वस्त्रको लेकर उनका शरीर पोंछते हुए उनके सखा हँसते-हँसते कह रहे थे। अभी और कोई वस्तु न चढ़ने लगे, इसी भयसे विप्रने नेत्र खोले नहीं थे।

यह क्या? बाजीगरके खेलके समान हो गया। पूरा प्राङ्गण सुनसान पड़ा था। सखाके अतिरिक्त वहाँ कोई था नहीं। विप्रको भी इस परिहासपर हँसी आ गयी। उन्होंने वस्त्र बदले और पहलेसे प्रस्तुत दूसरे आसनपर एक कुसुम-कुञ्जमें संध्या-पूजाके लिये बैठ गये।

× × ×

ऊपर कौशेय वस्त्रका मण्डप तना था। नीचे दुग्धोज्ज्वल चाँदनी बिछी थी। मध्यमें एक मृदुल आस्तरण-आस्तृत रत्नजटित स्वर्णचौकी रखी थी। रजत-पीठोंपर स्वर्णथालियोंमें विविध व्यंजन एवं जलपात्र रखे थे। समस्त मण्डपमें थालियोंकी पङ्क्ति लगी थी। दो पङ्क्तियोंके मध्यमें जानेको स्थान था। प्रत्येक पङ्क्ति मध्यके रत्नपीठसे प्रारम्भ होती थी। हाथमें चँवर लिये श्यामसुन्दर स्वयं चँवर डुला रहे थे। इस प्रकार सुदामा भोजनस्थानके उस दिव्य मण्डपके द्वारपर पहुँचे।

'प्रत्येक रानीने अपनी योग्यताके अनुसार अपना थाल सजाया है। उन्होंने इन व्यंजनोंके बनानेमें किसी सेवकसे कोई सहायता नहीं ली है।' सखाने परिचय दिया।

ब्राह्मणके चरण द्वारपर ही रुक गये। 'द्वारकेशकी प्रियाओंने स्वयं अपने कोमल करोंसे अग्निके सम्मुख बैठकर इस कंगालके लिये यह कष्ट किया है।' विप्र बड़े धर्मसंकटमें पड़े। 'जगदाधार जगन्नाथकी कुसुम-

सुकुमार रानियाँ, जो स्वयं पुष्प-चयन करनेमें भी कष्ट पाती होंगी, महेन्द्र भी जिनकी कठोर भृकुटिसे काँपते हैं, सचराचर जिनकी चरण-रेणु मस्तकपर रखकर पवित्र होता है, उन्होंने अग्निकी उष्णता और धूम्रकी नेत्रोंको पीड़ा देनेवाली कटुताकी चिन्ता न करके यह प्रसाद प्रस्तुत किया है। ब्राह्मणके लिये इतनी श्रद्धा! इतनी कष्टसहिष्णुता! इतना आदर!' वे गद्गद हो गये।

रानियोंकी श्रद्धा और कष्टको देखते वह प्रसाद जितना महान् था, थालियोंकी संख्याकी दृष्टिसे उतना ही विपुल भी। ब्राह्मणका हृदय बैठा जाता था। वे किसे छोड़ दें! इतने थालोंमेंसे एक-एक ग्रास तो क्या एक-एक दाना उठानेकी भी शक्ति यदि उनमें होती—कितने प्रसन्न होते वे! द्वारपर ही घुटनोंके बल बैठकर उन्होंने भूमिपर मस्तक रख दिया।

'आप यह क्या कर रहे हैं?' हँसते हुए सखाने पूछा।

'मोहन!' विप्रके नेत्र भरे थे। 'इस दुर्बल शरीरमें इतनी भी शक्ति नहीं कि इन थालियोंके चारों ओर घूम आवे। इनमें जो रानियोंकी श्रद्धा और कष्टका प्रतीक है, उसे प्रणाम कर रहा हूँ।'

'आप आसनपर भी पधारेंगे या नहीं?' सखाने हँसकर कहा। 'क्या करूँगा वहाँ जाकर?' ब्राह्मण इस परिहाससे विचलित हो रहा था। 'आपने कोई भोजनका डौल तो किया नहीं है। इतनी लंबी थालियोंकी पङ्क्तिमें मैं दौड़ूँ या भोजन करूँ? मैं न कुम्भकर्ण हूँ, न महर्षि अगस्त्य। न काल हूँ, न समुद्र। आपकी बुआके लड़के भीमसेन होते तो भी बात दूसरी थी! मेरा दुर्बल शरीर तो इतना हिल भी नहीं सकेगा कि इनमेंसे एक-एक दाना उठा सकूँ।'

'आप व्याख्यान देंगे या आसनपर चलेंगे?' श्यामने तनिक ठेला। चुपचाप जाकर सुदामा आसनपर बैठ गये।

'इन प्रसादके पात्रोंको कृतार्थ करें।' दोनों हाथ जोड़कर, बनावटी गाम्भीर्य दिखाते हुए सखाने कहा।

'बस कृपा करो!' ब्राह्मणने दोनों हाथ जोड़े और नेत्र बंद कर लिये। अब नटखटको दया आ गयी। पलक मारते विप्रके सामने एक थाल आ गया। सबसे बड़ा, सबसे सुन्दर, सबसे बहुमूल्य। उसीमें सब थालोंमेंसे एक-एक, दो-दो कण योगमायाने संग्रह कर दिये। रानियोंको संतोष हो गया। वे झटपट अपने-अपने थाल 'प्रसाद' समझकर उठा ले गयीं। ब्राह्मणने नेत्र खोले और छककर भोजन किया।

आचमन करनेपर एक ताम्बूलोंका पर्वत उन्हें दिखाया गया। झट उन्होंने नेत्र बंद करके एक ताम्बूल उठाया और मुखमें ले लिया। अबकी बार उन्होंने सखाको छका दिया था। दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े।

उत्तमासनपर दोनों बालमित्रोंका हास-परिहास चल रहा था कि हाथ जोड़कर श्रीरुक्मिणीजी सम्मुख उपस्थित हुईं। 'मेरा परम सौभाग्य है कि आप मेरे भवनको अपनी चरणरेणुसे पवित्र करते हैं!' उन्होंने स्तुति की।

'पर पता नहीं हमारे किस जन्मके पाप उदय हुए हैं कि हमारे सदन आपके श्रीचरणोंसे वञ्चित ही हैं।' सत्यभामाजीने पास ही खड़े होकर प्रार्थना की।

'मेरी बहनें मेरे सौभाग्यपर ईर्ष्या करती हैं।' रुक्मिणीजी मुसकरायीं!

'ठीक भी तो है' श्यामसुन्दर हँसते-हँसते बोले—'आपको कम-से-कम एक-एक दिनकी सेवाका सौभाग्य तो सभीको देना चाहिये।' उन्होंने प्रस्ताव किया।

'एक-एक दिन सबको!' सुदामाने चौंककर पूछा।

'इसमें आपको सुविधा होगी। न कलशों जल चढ़ेगा और न थालियोंकी प्रदक्षिणा करनी होगी। एक-एक दिनमें सबको सभी प्रकारकी सेवा भी प्राप्त हो जायगी और आपको कष्ट भी नहीं होगा।' नटनागर हँस रहे थे।

'सोलह हजार एक सौ आठ दिन। चौवालीस वर्षसे भी अधिक!' ब्राह्मणने चौंककर डरते हुए कहा—

'श्यामसुन्दर ! इतने दिनोंमें बेचारी ब्राह्मणी प्रतीक्षा करते-करते मर जायगी और सम्भवतः इस केवल एक-एक दिनके सत्कारको बीचमें ही छोड़कर यह दुर्बल ब्राह्मण भी......।'

'तब जाने दें !' द्वारकेशने मुख गम्भीर कर लिया।

'हमारे भवन चरण-रजसे भी वञ्चित ही रहेंगे ?' सत्यभामाजीने कुछ करुण-स्वरमें पूछा।

'हाँ—एक बार आप सब भवनोंमें हो आयें !' सखाने चटसे कह दिया।

'सब भवनोंमें हो आऊँ। जैसे बच्चेका खेल है ! भवन भी तो थोड़े ही हैं न ?' विप्रने झुँझलाहटसे कहा।

'नहीं, नहीं, आपको पैदल नहीं दौड़ना होगा !' सखाने आश्वासन दिया, 'कोई है ? दारुकसे कहो मेरा रथ प्रस्तुत करे।' व्यवस्था होने लगी।

'और मैं सोलह हजार एक सौ आठ बार रथसे चढ़ा-उतरीका व्यायाम करूँ ?' ब्राह्मणकी झुँझलाहट दूर नहीं हुई थी।

अन्तमें गरुड़का आह्वान हुआ और सुदामा पक्षिराजकी पीठपर आगे श्यामसुन्दरको बैठाकर पीछे बैठे उन्हें जोरसे पकड़कर। वह भी इस शर्तपर कि वे किसीके आँगनमें पक्षिराजकी पीठसे नहीं उतरेंगे।

ब्राह्मणके लिये यह पक्षि-यान था नवीन ही। डरते थे। जोरसे आगे बैठे सखाको दोनों हाथोंसे पकड़े थे। गरुड़ प्रत्येक राज्ञीके प्राङ्गणमें उतरते। वहाँ उनकी अर्घ्य, पाद्य, धूप, दीपसे पूजा होती। नैवेद्य वे ग्रहण करते नहीं थे। केवल लेकर गरुड़के आगे रख देते थे और गरुड़ इस प्रसादको क्यों छोड़ते, मालाएँ भी गरुड़के गलेमें ही सुदामा डाल देते थे। गरुड़ अधिक हो जानेपर उन्हें उड़ते-उड़ते ही समुद्रमें छोड़ आते थे। इस प्रकार सबके भवनोंको पक्षि-यानसे पवित्र करते-करते सुदामाको कई सप्ताहमें छुट्टी मिली।

अन्तमें उनके नटखट सखाने उन्हें द्वारकासे विदा किया उनकी उसी फटी लँगोटी और अँगोछेमें। कौशेय दुकूल वहीं छोड़कर उन्होंने अपनी फटी लँगोटी लगा ली थी और सखाने कोई आपत्ति की नहीं थी। स्वागत-सत्कार तो खूब हुआ, पर **'दक्षिणाभावे अक्षतम्'** भी नहीं रहा। वे जो दो मुट्ठी तन्दुल ले आये थे, उसे भी छीनकर नटवरने खा लिया था। खाली हाथ ही लौटे।

ब्राह्मणने रो-गाकर अपनी कुटियाके स्थानपर बने विराट् राजसदनमें प्रवेश किया। वे तो द्वारसे ही लौट जाते, पर उनकी पत्नीने देख लिया था और द्वारतक आकर वे अपने पतिदेवको ले गयीं। भीतर दासियोंका मेला लगा था। ब्राह्मणने पूछा—'कितनी हैं ये ?' पत्नीने हँसकर कहा—'सोलह हजार एक सौ आठ।'

इसी समय इन्हें भवनके पृष्ठभागमें कई मील लंबे-चौड़े घेरेमें गौएँ-गौएँ ही दृष्टि पड़ीं। सभीके खुर एवं सींग सोनेसे मढ़े थे। सब रत्नजटित झूलोंसे आच्छादित थीं। सबके समीप सुन्दर दो-तीन महीनेके बछड़े थे। सब हृष्ट-पुष्ट थीं। ब्राह्मणने उल्लसित होकर कहा—'कितनी सुन्दर गौएँ हैं !' पत्नीने मुसकराकर बताया—'ये भी सोलह हजार एक सौ आठ।'

ब्राह्मण समझ गये कि यह सखाकी पत्नियोंकी संख्या है। यह उन्हींकी दी हुई दक्षिणा है। जब सखाने यह वैभव दिया, तब उनकी पत्नियाँ ब्राह्मणको एक-एक गौ और ब्राह्मणीको एक-एक दासी क्यों न दें ?

उन्होंने देखा—उनके घरमें सोलह हजार एक सौ आठका साम्राज्य है। थाली, लोटा, छाता, खड़ाऊँ, रत्न आदि सभी उसी संख्यामें आ पहुँचे हैं। फिर भी वे द्वारकाकी सजी हुई सोलह हजार एक सौ आठ थालियों, स्नानके उस सम्भार अथवा प्रणामकी उस अड़चनको भूल सकेंगे ? यहाँकी संख्याएँ तो वहाँकी प्रतीक हैं।

# पढ़ो, समझो और करो

( १ )

## अहिंसाका पुजारी

अमरेली घंटाघर-चौकमें दूकानदारीके साथ घोड़ा और बैलोंके नाल जड़नेका काम करनेवाला अली सेठ वर्षों पूर्व जिस घोड़ा या बैलके नाल जड़ देता उसे वह चाहे जब पहचान लेता था। अलीबाबाकी चतुर दृष्टिने यह पहचान लिया कि बूढ़े बैलको जो भगाकर ले जा रहा है, वह कसाई है। पर कसाई या अलीसेठ एक-दूसरेको पहचानते नहीं थे। अलीसेठ पीछे दौड़े और बोले—'कहाँसे लिया यह बैल ?'

'बैल तो बापू! अभयराम घांचो कोल्हूमें चलानेके लिये किसी देहातसे ले आया था, परंतु कोल्हूमें चलनेके योग्य न होनेके कारण इसे मेरे हाथ बेच दिया है।'

'ठीक है, कितना रुपया दिया है ?' अलीसेठने पूछा।

कसाई समझ गया कि कोई जीवदया-प्रेमी महाजन है, मुँह-माँगा रुपया मिलेगा। अतः उसने बारह रुपयेमें खरीदे बैलके पैंतीस रुपये दाम बताये।

'देख, गायकवाड़-सरकारके राज्यमें गोवंशके मारनेकी कड़ी मनाही है। अभी तुझे पुलिसमें पकड़वा देता, पर मुझे ऐसा करना नहीं है। वास्तविक खरीदका मूल्य बता दे और अपना रास्ता ले।' अलीसेठने कहा।

पुलिसका नाम सुनते ही कसाई घबराया और बोला—'बापू! पंद्रह रुपयेमें लिया है।'

'चल दूकानपर, तुझे पंद्रहके बदले सत्तरह दूँगा, पहले इसे मवेशीगृहमें बाँधते चलें।' अलीसेठने कहा।

मवेशी-गृहकी विधि पूर्ण करके दोनों दूकानपर आये।

मसीद आ'—'अरे, जुम्मा है। चलो नमाज पढ़ने चलें।'

'नमाज—बापू! आप!—मवेशीगृह।'—कसाई भौचका हो गया।

'हाँ भाई, मैं तेरे-जैसा मुसलमान ही हूँ। हमारे धर्मग्रन्थ कुरानशरीफमें मूक पशुओंकी हिंसा करनेको कहीं नहीं लिखा है।' अलीसेठने बतलाया।

दूकानपर आकर कसाई बोला—'बापू! मूल भी छोड़ दूँ, ऐसी तो मेरी स्थिति नहीं है, परंतु मैंने बैल बारह रुपयेमें लिया है, मुझे मात्र बारह रुपये ही दीजिये।'

थोड़े दिनों पश्चात् ही उस कसाईको सिरपर कपड़ोंकी गठरी रखकर कपड़े बेचते देखा गया। अचानक ही उसकी अलीसेठसे भेंट हो गयी तो वह कहने लगा—'बापू! आपने छुरी तो गिरवा दी हाथसे, इस धंधेमें पैसा तो कम मिलता है, परंतु रोटी मीठी लगती है।'—'अखंड आनन्द' —आर० एच० मकाणी

( २ )

## प्रत्युपकार

हमारे यूथकी एक बहन जब-जब वेतन लेती, तब-तब सर्वप्रथम डाकघर जाती; इससे मुझे बार-बार यह विचार आता कि यह बहन विधवा है, इसके कोई संतान भी नहीं है, समीपका कोई सम्बन्धी भी नहीं है, फिर डाकघर पैसा जमा करने क्यों जाती है।

एक बार उसने मुझसे भी कहा है कि 'बहन! क्या यह मनीआर्डर कर दोगी? मुझे थोड़ा काम है, इससे आपको कष्ट देती हूँ।' मैंने उसका वह काम कर दिया। ऐसा दो-तीन बार अवसर आया। एक बार तो उसका स्वास्थ्य भी खराब था, फिर भी उसने मनीआर्डर किया था। इससे मेरी जिज्ञासा अधिक तेज हो गयी और मैंने इस विषयमें सब कुछ जानकारी करनेका निश्चय कर लिया।

एक बार हम दोनों एकान्तमें थीं, शान्तिसे थीं, तब मैंने चर्चा प्रारम्भ की—'बहन! आप प्रत्येक महीने मनीआर्डर कहाँ भेजती हैं ?'

थोड़ी देर पश्चात् उन्होंने वर्षों पहलेकी मनमें छिपाकर रखी हुई घटना प्रारम्भ की—'बहन ! उस समय हमारी स्थिति बहुत ही निर्धनताकी थी और मुझे पढ़नेकी बहुत रुचि थी—उत्साह था। मेरी माँ मेरे जन्मके पश्चात् ही कालकवलित हो गयी थी। मेरे पिताके समीपके सम्बन्धकी एक बहनने मेरी सार-सँभाल करके बड़ा किया था। मेरे पिताने पुनः विवाह नहीं किया था, अतः उन्होंने मुझे घरके सभी काम-काज करना बचपनसे ही सिखा दिया था। मैंने घरके कामके साथ स्कूल जाना भी चालू रखा। परिस्थिति खराब रहनेसे कोई सगा-सम्बन्धी भी समीप नहीं आता था।

'मेरे पिता मजदूरी करके जैसे-तैसे गुजारा करते थे। मैं पढ़ाईमें बहुत ध्यान देती और कक्षामें प्रथम उत्तीर्ण होती। मैं और मेरे पिता—सादा-सरल जीवन व्यतीत करते, परंतु दुःख आता है तो अकेला नहीं आता, समूहके साथ आता है—इस कहावतके अनुसार मेरे पिताकी हृदयगति रुक जानेसे मृत्यु हो गयी। मैं पागल-जैसी हो गयी और उस समय मुझे आश्वासन देने हमारी कक्षाकी शिक्षिका बहन हमारे घर पधारीं। प्रौढ़ावस्थाकी वे बहन मेरी पूरी परिस्थिति समझ गयीं। एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाली उन शिक्षिका बहनने अपने समीप अपने घरमें रखकर मेरी पढ़ाई चालू रखी। उनके जीवनकी मैं आशा-दीपिका बनी। उनके संतान नहीं थी, दूसरे वे विधवा थीं। अकेले जीवनको सहारा मिला—दोनोंको।

'उनकी स्मृति आते ही नेत्र भर आते हैं। मुझे शिक्षिकाकी ट्रेनिंग दिलायी, नौकरी दिलायी और अब वे नौकरीसे अलग हो गयी हैं। उनकी आँखोंमें मोतियाबिन्द हो गया है। पेंशन नाममात्रकी मिलती है, मैं प्रत्येक महीने उनके ऋणसे उऋण होनेका प्रयत्न करती हूँ। वे साथ तो रहती नहीं हैं, बहुत स्वाभिमानिनी हैं। इससे मुझे बहुत सावधानीपूर्वक उनकी सेवा करनी पड़ती है। तुमने आज यह बात पूछी है, इससे बता दी है, नहीं तो इस समाजमें किसे किसकी पड़ी है! घायलकी गति घायल ही जानता है और अब तो मैं दुःखसे एकाकार हो गयी हूँ।' ऐसा कहकर वे प्रसन्न-मुख उठीं और अपनी कक्षामें चली गयीं। मैं उन्हें एकटक देखती रही।

—रमा यादव

## ( ३ )

### यह सच है

घटना बहुत पुरानी नहीं, पिछले वर्षके अक्टूबर मासकी है। महाविद्यालयकी साठ छात्राध्यापिकाएँ और आठ-दस कार्यकर्ता माउण्ट आबू, अहमदाबाद, बड़ौदा, बम्बई, गोवा, अजन्ता, एलोरा आदि दर्शनीय स्थानों और शहरोंको देखने-हेतु दस दिनके शैक्षिक भ्रमणपर गये हुए थे। २२ अक्टूबरको सभीको महाविद्यालयमें वापस पहुँचना था, परंतु सूर्यास्ततक कोई वापस नहीं आया। चिन्ता बढ़ने लगी। तरह-तरहकी कल्पनाएँ मनको कुरेदने लगीं। रात यों ही बीत गयी। २३ अक्टूबरका सूर्य भी उदय होकर अस्त हो गया। सभी स्थानोंपर ट्रंक-कालसे पूछताछ की, परंतु लड़कियोंका कहीं पता न चला। चिन्ता और भी अधिक बढ़ने लगी। हरिस्मरणके अतिरिक्त कोई रास्ता दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

रातके अँधेरेके साथ-साथ मनका अँधेरा भी बढ़ने लगा। सोचते-सोचते रातके नौ बज गये। अचानक किसीने सूचना दी—'घरपर पाँच मिनटके लिये बुलाया है।' मैं फोन छोड़कर चला गया। देखा तो पत्नी बेहोश पड़ी थीं। एक उलझन तो थी ही, दूसरी और आ गयी। मैं सोचने लगा—'न जाने प्रभुकी क्या इच्छा है? उलझन-पर-उलझन।' अचानक मुँहसे निकल गया—'प्रभो! अब अधिक तंग मत करो। मुझे बताओ, बच्चियाँ कहाँ हैं? मुझे पत्नीकी चिन्ता नहीं, उन बालिकाओंकी चिन्ता है। जिन्होंने मेरे भरोसे अपनी बालिकाओंको छोड़ा है, उन्हें क्या उत्तर दूँगा?'

मेरे ऐसा कहते ही मेरी पत्नी उसी मूर्च्छाकी हालतमें बोली—'चिन्ता मत करें! कलसे खाना नहीं

खाया है, खाना खा ले। जिन बालिकाओंके लिये इतना चिन्तित हैं, वे सब सुरक्षित हैं। सापूतारा-( गुजरात राज्य ) के पास रातके १२-१५ बजे बस एक घाटीमें गिर गयी थी। बसको एक पेड़के सहारे रोककर सबको बचा लिया गया है। बसको भी कुछ हानि नहीं हुई और लड़कियाँ भी सुरक्षित हैं। जा! चिन्ता छोड़! खाना खा ले!' आवाज पत्नीकी नहीं किसी औरकी थी! किसकी थी—यह मैं आजतक नहीं समझ पाया हूँ। वह मेरे लिये उस समय भी रहस्य था और आज भी रहस्य ही बना हुआ है।

किसी अज्ञात शक्तिद्वारा इतना विश्वास दिलानेपर भी मैं खाना न खा सका। पुनः फोनके पास आकर उसी चिन्तामें बैठ गया। ठीक दस मिनट बाद तीन लड़कियाँ आयीं और फूट-फूटकर रोने लगीं। उनकी हिचकियाँ बँध गयीं। मैं किसी अज्ञात आशङ्का और भयसे और भी भयभीत हो गया। उन्हें सान्त्वना दी और पूछा—'क्या हुआ?'

वे बताने लगीं, हम सुनने लगे। परंतु ये सब बातें औरोंके लिये नयी होते हुए भी मेरे लिये पुरानी पड़ चुकी थीं। सब कुछ वही था जो मैं दस मिनट पूर्व सुन चुका था—वही दृश्य, वे ही बातें। एक बात नयी अवश्य थी; वह यह थी कि उस घाटीमें गिरकर आजतक कोई जीवित नहीं बचा था। सम्भवतः यह पहला चमत्कार था कि सभी लड़कियाँ और बस पूरी तरह सुरक्षित थीं। इससे भी बड़ा चमत्कार था कि जिस पेड़के सहारे बस रुकी वह बहुत बड़ा वृक्ष नहीं, एक झाड़ी-नुमा शक्ति थी, जो इन सभीको बचाने-हेतु चार सालसे उस स्थानपर मौन साधनामें लीन थी।

घटना घटित हो गयी, विचार अब भी चालू है, चालू रहेगा—वह अज्ञात शक्ति कौन थी? गीताके कर्मयोग और ईश्वरमें आस्था रखकर शुद्ध मनसे हम अपना कार्य करते रहें। यदि हमारी आस्था अटूट है तो निश्चित और निर्विकार रूपसे वह शक्ति, जिसमें हमारी आस्था है; हर प्रकारसे हमारी सहायता करती है। हमारी चिन्ता उसकी चिन्ता है, हमारी उलझन उसकी उलझन है। यह सच है।' —वैजनाथ शर्मा

( ४ )

### प्रार्थनाका तात्कालिक फल

यह घटना चार साल पहलेकी है। एक बार हमारी बहनके लड़केको एक व्यक्तिने शत्रुताके कारण साइकिलके चेनसे मार दिया, इससे उसकी आँखपर गहरी चोट लगी। डाक्टरका कहना था कि इसे कलकत्ता ले जायँ और इस आँखका ऑपरेशन करा लें अन्यथा आँख चली जायगी। हमारी बहन तथा घरके सभी लोग बहुत घबरा गये और उसी दिन कलकत्ता अस्पतालमें पहुँच गये। डाक्टरने देखा और ऑपरेशनकी तारीख भी निश्चित कर दे दी। जिस दिन ऑपरेशन होनेवाला था, उस दिन हमारी बहनसे किसीने कहा कि कलकत्ता कॉलिज स्ट्रीटके पास कोई ठनठनिया माँ कालीका मन्दिर है। वहाँ प्रार्थना करनेसे मनकी बात पूरी हो जाती है। बहनने वहाँ जाकर रो-रोकर प्रार्थना की और माँसे बोली कि 'माँ उसकी आँख अच्छी कर दो और ऑपरेशनसे बचा दो।' अहा! माँकी कृपा ऐसी हुई कि अस्पताल पहुँचकर सुनती हूँ कि लड़केकी दृष्टिमें सफलता मिली है। इस कारण कल ऑपरेशन नहीं होगा। जिस समय उस लड़केको ऑपरेशन-रूममें ले जाया जा रहा था उसी समय वह बोला कि मुझे दिखायी पड़ रहा है। डॉक्टरने कहा कि 'बोलो तो इस खिड़कीमें कितने छड़ लगे हुए हैं?' उस लड़केके ठीक-ठीक बतानेपर डॉक्टर बहुत प्रसन्न हुए और उसे बिस्तरसे उतारकर बोले—'अब ऑपरेशनकी आवश्यकता नहीं, दवासे ठीक हो जायगा।' बस, उन्हीं माँकी कृपासे ऐसा चमत्कार हुआ। माँपर श्रद्धा-भक्ति बढ़ गयी।

—श्रीमती [illegible] झाड़

# मनन करने योग्य

## आदर्श दण्ड

फ्रेडरिककी सेनामें एक मनुष्य कभी लेफ्टिनेंट कर्नलके पदपर रहा था। काम न होनेसे उसे अलग कर दिया गया था। वह बार-बार फ्रेडरिकके पास आता और उसी पदके लिये उसपर दबाव डालता। फ्रेडरिकने बार-बार उसे समझाया—'भैया! अभी कोई जगह खाली नहीं है।' परंतु उसने एक भी नहीं सुनी। अन्ततः फ्रेडरिकने हैरान होकर उसे बड़ी कड़ाईके साथ वहाँ आनेके लिये मना कर दिया। कुछ समय बाद किसीने फ्रेडरिकके सम्बन्धमें बड़ी कड़ी कविता लिखी। शान्त स्वभाव होनेपर भी फ्रेडरिक इस अपमानको न सह सका। उसने मुनादी करवा दी कि इस कविताके लेखकको पकड़कर जो मेरे सामने उपस्थित करेगा उसे पचास सोनेकी मोहरें इनाम दी जायँगी। दूसरे दिन फ्रेडरिकने देखा कि वही आदमी सामने उपस्थित है। फ्रेडरिकने क्रोध और आश्चर्यमें भरकर पूछा, 'तू फिर यहाँ कैसे कूद निकला?' उसने कहा—'सरकार! आपके विरुद्ध जो कड़ी कविता लिखी गयी थी, उसके लेखकको पकड़ा देनेवालेको आपने पचास सोनेकी मोहरें देनेकी मुनादी करवायी है न?'

'हाँ, हाँ, तो इससे क्या?' फ्रेडरिकने शान्तभावसे पूछा।

'तब तो सरकार! वह इनाम मुझे दिये बिना आपको छुटकारा नहीं।' उसने कहा।

'क्यों' फ्रेडरिकने संकोचसे पूछा।

'इसलिये सरकार! कि उस कविताका लिखनेवाला यही आपका सेवक है। आप सरकार! मुझे भले ही दण्ड दें, परंतु क्या मेरे भूखों मरते हुए स्त्री-बच्चोंको अपनी घोषणाके अनुसार इनाम नहीं देंगे, मेरे कृपालु स्वामी?'

फ्रेडरिक एकदम लाल-पीला हो उठा। तुरंत ही एक कागजके टुकड़ेपर कुछ लिखकर उसे देते हुए उसने कहा—'ले इस परवानेको लेकर स्पाडो किलेके कमांडरके पास चला जा। वहाँ दूसरोंके साथ कैद करनेका मैंने तुझे दण्ड दिया है।'

'जैसी इच्छा सरकारकी; परंतु उस इनामको न भूलियेगा।'

'अच्छा सुन। कमांडरको परवाना देकर उसे सचेत कर देना कि भोजन करनेसे पहले परवाना पढ़े नहीं। यह मेरी आज्ञा है।' गरीब बेचारा क्या करता, फ्रेडरिककी आज्ञाके अनुसार उसने स्पाडोके किलेपर जाकर परवाना वहाँके कमांडरको दिया और कह दिया कि भोजनके बाद परवाना पढ़नेकी आज्ञा है।

दोनों खाने बैठे। वह बेचारा क्या खाता। उसका तो कलेजा काँप रहा था कि न जाने परवानेमें क्या लिखा है। किसी तरह भोजन समाप्त हुआ, तब कमांडरने परवाना पढ़ा और पढ़ते ही वह प्रसन्न होकर पत्र-वाहकको बधाइयाँ-पर-बधाइयाँ देने लगा। उसमें लिखा था—

'इस पत्रवाहक पुरुषको आजसे मैं स्पाडोके किलेका कमांडर नियुक्त करता हूँ, अतएव इसे सब काम सम्हलाकर और सारे अधिकार सौंपकर तुम पोटर्सडमके किलेपर चले जाओ। तुम्हें वहाँका कमांडर बनाया जाता है, इससे तुम्हें भी विशेष लाभ होगा। इसी बीचमें इस नये कमांडरके बाल-बच्चे भी सोनेकी पचास मोहरें लेकर पहुँच रहे हैं।'

पत्रवाहक परवाना सुनकर आनन्दसे उछल उठा और पुराने कमांडरको भी अपनी इस तबदीलीसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

॥ श्रीहरिः ॥

## 'कल्याण'

( भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र- ) के ६० वें वर्ष—
वि० सं० २०४२-४३ ( सन् १९८६ ई०. ) के दूसरे अङ्कसे बारहवें अङ्कतकके

# निबन्धों, कविताओं और संकलित सामग्रियोंकी वार्षिक विषय-सूची

*( विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है । )*

## निबन्ध-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

## 'कल्याण'का आगामी ( जनवरी १९८७ का ) विशेषाङ्क शक्ति-उपासना-अङ्क

आजका मानव भोग और संग्रहकी लालसासे शोक-संतप्त तथा सुख-दुःखके भोगके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा है। ऐसी विषम परिस्थितिमें इसे करुणामयी पराम्बा भगवतीके आश्रयकी आवश्यकता है। इस परिस्थितिको लक्ष्य करके 'कल्याण'में 'शक्ति-उपासना-अङ्क' प्रकाशित करनेका विचार किया गया है। बहुत वर्षों पहले १९३५ ई० में 'कल्याण'का शक्ति-अङ्क प्रकाशित हुआ था। उसकी बहुत माँग रही। उस समय बहुत-से पाठक अपनी प्रति सुरक्षित नहीं करा सके थे। अतः उसके बाद पुनः प्रकाशित करनेका प्रेमी पाठकोंका आग्रह बना रहा। इसलिये इस अङ्ककी बहुत अधिक माँग हो सकती है। अतः 'कल्याण' प्रेमियोंको अपनी धनराशि ३०.०० रुपये भेजकर अपनी प्रति सुरक्षित करवा लेनी चाहिये।

## 'कल्याण'के उपलब्ध विशेषाङ्कोंकी सूचना

### ( इन तीनों विशेषाङ्कोंपर कमीशनकी विशेष छूट )

'कल्याण'के निम्नाङ्कित तीन विशेषाङ्क हमारे स्टॉकमें उपलब्ध हैं। इन विशेषाङ्कोंकी सीमित प्रतियाँ ही बाकी बची हैं। अतः इच्छुक महानुभावोंको मूल्य मनीआर्डर अथवा बैंक ड्राफ्टद्वारा भेजकर विशेषाङ्क मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये। तीनों विशेषाङ्कोंमेंसे सबकी अथवा किसीकी भी कम-से-कम २० प्रतियाँ एक साथ मँगानेपर १५.०० रु० प्रतिशत कमीशन दिया जायगा एवं पैकिंग-खर्च तथा रेलभाड़ेकी भी छूट होगी।

### ( चरित्र-निर्माणाङ्क )

'कल्याण'के ५७ वें वर्षमें विशेषाङ्कके रूपमें 'चरित्र-निर्माणाङ्क' प्रकाशित किया गया था। इसमें चरित्रसे सम्बन्धित सभी विषयोंका विशद वर्णन है, जिसकी आज हमारे पतनोन्मुख समाजको बहुत आवश्यकता है। इस दृष्टिसे यह विशेषाङ्क अत्यन्त उपयोगी और संग्रहणीय है। इसमें विषयके अनुरूप जगह-जगह आकर्षक चित्र भी दिये गये हैं। मूल्य २४.०० ( चौबीस रुपये ) मात्र ( डाक-खर्चसहित ) है।

### ( मत्स्यपुराणाङ्क-पूर्वार्ध )

'कल्याण'के ५८ वें वर्षमें विशेषाङ्कके रूपमें 'मत्स्यपुराणाङ्क' ( पूर्वार्ध ) प्रकाशित किया गया था। भगवान्के अनेकों अवतारोंमें एक अवतार 'मत्स्यावतार' भी है। इस विशेषाङ्कमें मत्स्यभगवान्के द्वारा वर्णित अनेकों सुन्दर कथाओं जैसे—विष्णुके दशावतार-वृत्त, शिवचरित्र, उनका मङ्गल विवाह, राजा ययातिका चरित्र इसके अलावा व्रत एवं तीर्थोंका माहात्म्य है। मूल्य २४.०० ( चौबीस रुपये ) मात्र ( डाक-खर्चसहित ) है।

### ( मत्स्यपुराणाङ्क-उत्तरार्ध )

'कल्याण'के ५९ वें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें 'मत्स्यपुराणाङ्क'—( उत्तरार्ध ) प्रकाशित किया गया था। इसमें 'मत्स्यपुराणाङ्क'—( पूर्वार्ध ) के बादकी समस्त कथाएँ जैसे—त्रिपुर-दाह, तारक-वध, नृसिंह-अवतार, समुद्रमन्थन, सम्पूर्ण राजनीति, धर्मनीति, सर्वप्रतिमानिर्माण प्रतिष्ठा-पूजाविधान, यात्रा एवं स्वप्न-विचार आदिका सुन्दर वर्णन है और विषयके अनुरूप सुन्दर, आकर्षक रंगीन-चित्र भी दिये गये हैं। मूल्य २४.०० ( चौबीस रुपये ) मात्र ( डाक-खर्चसहित ) है।

व्यवस्थापक—'कल्याण'